जीवकर्म-संवाद

जैनधर्म दिवाकर

उपाध्याय आत्माराम जी महाराज

नमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स ॥

जीवकर्म-संवाद

लेखक

जैनधर्मदिवाकर, जैनागमरत्नाकर, साहित्यरत्न, जैनमुनि

श्री श्री श्री १००८ उपाध्याय श्री आत्माराम जी महाराज

(पंजाबी)

प्रकाशक

ला० सोहनलाल अग्रवाल जैन व मेलाराम थापर जैन

लुधियाना

प्रथमावृत्ति]   महावीराब्द २४६९, सन् १९४४   [मूल्य ॥)

धन्यवाद

जीवकर्म-संवाद नामक यह पुस्तक लाला सोहनलाल जी जैन प्रोप्राइटर आफ मैसर्ज़ सोहनलाल जुगलकिशोर जैन, तालाब बाज़ार लुधियाना व लाला मेलाराम जी थापर जैन प्रोप्राइटर आफ मैसर्ज़ मंगतराम मेलाराम थापर जैन, मंडी खज़ानचियां लुधियाना के अपने निजी व्यय से प्रकाशित हो रही है, प्रत्येक सद्‌गृहस्थ को इनका अनुकरण करते हुये धार्मिक कार्यों में उत्साह प्रदर्शित करना चाहिये।

निवेदक—

गुजरमल जैन (मंत्री)

लुधियाना

दो शब्द

प्रिय पाठकवर्ग ! आज का संसार प्रायः उपन्यासों की ओर झुक रहा है। जिनमें कि प्रायः—काम, क्रोध, राग, द्वेष, मोह शोक, तथा हास्योत्पादक विषयों का वर्णन पाया जाता है। जिनके पठन-पाठन से अध्येतृवर्ग की मानसिक-वृत्तियों का पतन अधिक संभव है। जिसके कारण उनका जीवन निस्सार एवं निन्दनीय हो जाता है, क्योंकि उपन्यासों में प्रायः युवक और युवतियों के पारस्परिक सांसारिक वासनामय स्नेहालिङ्गनादि तथा कामक्रीडादि के उल्लेख पाये जाते हैं। अतः उपन्यासों के पाठक, मोहनीय कर्म उदय के कारण रात्रिदिव उसी की चिन्ता में निमग्न रहते हुये अपना पवित्र एवं देव-दुर्लभ मनुष्य-जीवन प्रायः नष्ट कर बैठते हैं।

पाठकों की मानसिक वृत्तियें उन सांसारिक वासनात्मक उपन्यासों पर न जा कर केवल धार्मिक वातावरण में ही ओतप्रोत रहें, तथा निज जीवन के उद्देश्य को सफल बनाती हुई, अपने तथा दूसरों के कल्याण के लिये अग्रसर हों—इसी उद्देश्य को सन्मुख रखकर जीवकर्म-सम्वादात्मक निबन्ध की रचना की गई है। जिसको पढ़कर जीव और कर्मों के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर मुमुक्षु आत्माएँ निर्वाण पद की प्राप्ति करें।

विचारशील प्रिय पाठक ! अन्त में यही निवेदन है कि जीव और कर्मों का सविस्तर वर्णन होने पर भी हमारा यह स्वल्प प्रयास है। आशा है पाठक जीवकर्म-संवाद के स्वाध्याय से निज जीवन कृतकृत्य करेंगे।

उपाध्याय आत्माराम

जीवकर्म-संवाद

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो वीरं बुधाः संश्रिताः;
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो वीराय नित्यं नमः।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं वीरस्य घोरं तपो;
वीरे श्रीधृतिकीर्तिकान्तिनिचयो हे वीर! भद्र दिश ॥

❀ ॐ ❀

॥ नमोत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स ॥

जीवकर्म संवाद

प्राचीनभारत-विख्यात कौशाम्बी नगरी में आज बड़ी ही चहल पहल दिखाई दे रही है। प्रत्येक नर-नारी का हृदय प्रसन्नता से उमग रहा है। ऋतुराज वसन्त के आगमन से और श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पधारने से वहां के मृगवन नामा उद्यान को जो अपूर्व लावण्य और विशिष्ट सौभाग्य प्राप्त हो रहा है, उसके सामने नन्दनवन की शोभा भी फीकी मालूम पड़ती है। श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के स्वागत के लिए ऋतुराज वसन्त ने उस उद्यान को जिस रूप में सजाया है वह उसी के अपूर्व कौशल का आभारी है। प्रत्येक वृक्ष बहुमूल्य वस्त्रों और आभूषणों से अलंकृत नव-युवकों की भाँति, नवीन पत्र, पुष्प और फल आदि से सुशोभित हो रहे हैं। सुन्दर पुष्पों से लदी हुई वनलताएं मन्द २ वायु के सम्पर्क से झूमती हुई प्रभु के स्वागत के लिए अग्रसर हो रही हैं। वृक्षों पर बैठे हुए पक्षीगण अपनी संमिलित मधुर

ध्वनि के अभ्यास से भगवान् के अभिनन्दन की तैयारी में लग रहे हैं। पुष्पों पर बैठकर गुंजार करने वाले भ्रमरों का समुदाय प्रभु-स्वागत के लिए अपनी एक अलग मण्डली तैयार कर रहा है। तथा महाराजा उदायन की कृपा से प्राप्त हुई निर्भयता को प्रभु के समक्ष निवेदन करने के लिए उद्यान के मृगादि पशु इधर उधर घूमकर अपने सजातीय बन्धुओं को एकत्रित करते हुए दिखाई देते हैं। जिस वृक्ष के नीचे प्रभु के विराजने का निश्चय हुआ है उसके सजाने में तो ऋतुराज ने कोई कसर बाकी नहीं रखी। वह अन्य छोटे २ सुन्दर वृक्षों से परिवृत हुआ २ अनुचरों से परिवृत हुए अधिनायक की तरह सुशोभित हो रहा है। उसकी प्रसन्नता आज देखे ही बनती है। वीतराग प्रभु, मेरे नीचे रक्खे हुए इस शिलामय सिंहासन पर विराजमान होकर नगर में आई हुई भाग्यशाली जनता को परम-कल्याणकारिणी धर्म-कथा सुनायेंगे। उससे मेरा कल्याण भी अवश्यंभावी है। अहो मेरा यह कितना सौभाग्य है, इस हर्षातिरेक से उसका सारा शोक जाता रहा अतएव वह सामान्य वृक्ष होने पर भी अशोक-शोकरहित वृक्ष के नाम से प्रसिद्ध होने लगा। ऋतुराज वसन्त के इस स्वागत समारोह में वहां की प्रजा ने भी पूरा सहयोग दिया।

आज कौशाम्बी का प्रत्येक स्त्री-पुरुष बाल-वृद्ध और युवक आनन्द से विभोर हुआ २ मृगवन नामक उद्यान की ओर जारहा है। आज प्रभु उद्यान में पधारेंगे और हमें

उनके पुण्यदर्शन का लाभ प्राप्त होगा। तथा उनके पुनीत कथामृत को पान करके हृदयों को शान्ति मिलेगी। इस भावना से भावित हुए नर-नारी एक दूसरे से आगे निकलने का यत्न कर रहे हैं। इधर महाराजा उदायन ने भी प्रभुस्वागत के लिए अपने वैभव के अनुरूप ही तैयारी की है। इस प्रकार उद्यान में पहुँच कर जनता ने ऋतुराज वसन्त के साथ ही श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का बड़े समारोह और उत्साह के साथ स्वागत करके अपनी श्रद्धा-भक्ति का सजीव परिचय दिया। इसके अनन्तर धर्मप्रेमी प्रजा की चित्तवृत्ति रूप कुमुदिनी के चन्द्रमा, धर्मप्राण, जनता के मन रूप कमल के सूर्य श्रमणभगवान् महावीर स्वामी नक्षत्रों में चन्द्रमा के समान अपने मुनियों से परिवृत हुए २ अशोक वृक्ष के नीचे शिलामय सिंहासन पर विराजमान हो गये। उस समय उनके दिव्य और शान्त तेजःपुञ्ज से प्रभावित हुआ सारा उद्यान एकदम जगमगा उठा। प्रत्येक वृक्ष की एक २ टहनी प्रत्येक लता की एक २ पत्ती और प्रत्येक पुष्प की एक २ पांखड़ी प्रभु के आगमन से प्राप्त होने वाले अपूर्व आनन्द को अपनी अलौकिक चेष्टाओं के द्वारा व्यक्त कर रही थी। अधिक क्या कहें सारे का सारा उद्यान आनन्दातिरेक से विभोर हो उठा। प्रभु के विराजने पर उनके साथ में आने वाले मुनिगण अन्यान्य वृक्षों के नीचे बैठकर मुनिचर्या के अनुरूप शास्त्र-स्वाध्याय और ध्यानादि में प्रवृत्त हो गये। तब नगर की जनता

के साथ प्रभु स्वागत के लिए आने वाले महाराजा उदायन की विनीत प्रार्थना से श्रमणभगवान् महावीर स्वामी ने अपने दिव्य उपदेश का आरम्भ किया। आज के उपदेश में प्रभु ने आत्मा और अनात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए मोक्षाभिलाषी आत्मा को अपना वास्तविक ध्येय प्राप्त करने के लिए जिन साधनों की आवश्यकता है उनका सविस्तार स्वरूप अथवा जिन कारणों से आत्मा को अपने स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती उनका स्वरूप वर्णन करके बतलाया। प्रभु के इस उपदेश से भावुक श्रोताओं को बहुत लाभ हुआ। उन्हें इच्छित शान्ति मिली। प्रभु का उपदेश समाप्त होने पर प्रभु को सविधि वन्दना नमस्कार करके जनता अपने २ स्थानों को चली गई। और महाराजा उदायन भी भगवान् को भक्तिपूर्वक वन्दना नमस्कार करके सपरिवार अपने राजभवन को लौट गया।

इसके अनन्तर अपने साथ में रहे हुए श्रमण निर्ग्रन्थों को सम्बोधित कर भगवान् ने कहा कि आज मैं तुम लोगों को जीव और कर्म के सम्बन्ध में कुछ जानने योग्य बातें सुनाना चाहता हूँ। जो कि तुम्हारे लिए बहुत उपयोगी हैं, तुम लोग उनको ध्यानपूर्वक सुनने का प्रयत्न करो। भगवान् बोले— इस समय कर्म और जीव के स्वरूप तथा सम्बन्ध के विषय में अनेक मत प्रचलित हो रहे हैं। जिनको सन्मुख रख कर एक तटस्थ जिज्ञासु को वास्तव तत्व के निर्णय में बहुत सी कठिनाइयें उपस्थित हो जाती हैं। वह यत्न करने पर भी

सन्देह-रहित नहीं हो सकता। इसलिए ऐसे विवाद-ग्रस्त विषय के वास्तविक स्वरूप को समझ लेने की तुम लोगों को बहुत आवश्यकता है। एतदर्थ ही मैंने तुम्हारे लिए इस विषय को चुना है।

कितने एक विचारक इस जीवात्मा को कर्मों से सर्वथा असंयुक्त कर्तृत्व भोक्तृत्वादि धर्मों से रहित सर्वथा अपरिणामी कूटस्थ रूप मानते हैं। और कई एक सम्प्रदाय इन कर्मों को ही सर्व प्रधान स्वीकार करते हैं। तथा किसी के मत में जीव और कर्मों से सर्वथा पृथक् एक नियति-होनहार को ही प्रधान स्थान दिया गया है। एवं किसी २ ने जीव और कर्मों के संयोग तथा वियोग के लिए स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में एक ईश्वर तत्व को ही सर्वेसर्वा समझ रक्खा है। अब इन उक्त विचारों में जो तथ्य है उसी को मैं तुमारे सामने उपस्थित करता हूं। उसको समझ लेने पर जीव और कर्म के विषय में तुम लोग निःसन्देह हो जाओगे। भगवान् के इस मधुर भाषण को सुन कर श्रमण-समुदाय को बड़ा हर्ष हुआ, वह मन ही मन में अपने को बड़ा ही पुण्यशाली समझने लगा और भगवान् के जीवकर्मविषयक उपदेशामृत को पान करने की बड़ी आतुरता से प्रतीक्षा करने लगा। भगवान् के इतना कह चुकने के बाद तत्काल ही उन श्रमणों ने वहां पर नौ पुरुषों को हाथ जोड़े भगवान् के सामने खड़े हुए देखा। उनको देखते ही वे बड़े विस्मित हुए। उनमें आठों का स्वरूप और

वेष तो प्रायः एक ही जैसा था और एक का स्वरूप और वेष उनसे सर्वथा पृथक् था। तथा वे आठ व्यक्ति तो एक पंक्ति में खड़े थे और एक नवमा उनसे अलग होकर भगवान् के कुछ अधिक समीप में खड़ा था, इस विचित्र घटना को देखकर उन निर्ग्रन्थ-साधुओं को बड़ा आश्चर्य हुआ और एक दूसरे के मुख की ओर ताकने लगे। कोई भी कुछ बोलने में समर्थ नहीं होसका। इस प्रकार चकित और किंकर्तव्यविमूढ़ से हुए २ उन मुनियों को देखकर भगवान् बोले—हे मुनियो! ये जो नौ पुरुष मेरे सामने हाथ जोड़े खड़े हैं तुम इनको अच्छी तरह से देखो इनमें मेरी बाईं ओर कुछ दूरी पर एक ही प्रकार का वेष पहिने हुए जो आठ पुरुष खड़े हैं ये आठों कर्म के नाम से प्रसिद्ध हैं इनके पृथक् २ नाम का निर्देश तुम को आगे सुनने में आवेगा। और मेरे दक्षिण की ओर इन आठों की अपेक्षा कुछ अधिक समीप में खड़ा होने वाला जो यह अकेला व्यक्ति है इसको जीव कहते हैं। यह मेरा सजातीय होने से मेरे समीप में आकर खड़ा हुआ है। और ये आठों ही एक जाति के हैं। इस लिए अपनी अलग पंक्ति में खड़े हुए हैं। इनकी जाति मुझ से अलग है। अतः ये कुछ दूर पर खड़े हैं। ये आठों ही बड़े प्रगल्भ हैं, अपना वर्णन करने में पूर्णतया समर्थ हैं। और यह नवमा जीवात्मा भी कुछ कम सामर्थ्य नहीं रखता। बोलने में यह भी चपल है। अतः इनके ही मुख से सुना हुआ इनका वर्णन अधिक रोचक और हृदयग्राही होगा। इसके

अतिरिक्त जीव के साथ जो इनका चिरकाल से वादविवाद चला आता है उनका निर्णय करने में भी बहुत सुविधा होगी। अस्तु अब मैं प्रथम इन आठों को क्रमशः बोलने की आज्ञा देता हूँ। तुम लोग ध्यानपूर्वक प्रत्येक के भाषण को सुनो। भगवान के इस प्रकार आदेश करने पर उन आठों कर्म पुरुषों ने क्रमपूर्वक इस प्रकार बोलना आरम्भ किया—

ज्ञानावरणीय—भगवन्! मेरा नाम ज्ञानावरणीय है, जीवात्मा के ज्ञान-गुण को आच्छादित करना मेरा स्वभाव है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश को मेघमण्डल ढक लेता है, इसी प्रकार मैं भी आत्मा के चैतन्य प्रकाश को विलुप्तप्राय कर देता हूँ। अपने आप को सर्वज्ञ समझने वाले अभिमानी आत्मा को मूर्ख अज्ञानी बना देना मेरे बाएं हाथ का खेल है। मैं इस विषय को समझ नहीं सकता, मुझे इस बात का स्मरण नहीं रहा, प्रयत्न करने पर भी इस पदार्थ के समझने में मुझे सफलता प्राप्त नहीं हुई। आत्मा की इन उक्तियों में मेरा ही प्रभाव ओतप्रोत है। आत्मा की ज्ञान शक्ति को तिरोहित करने में मेरे सूक्ष्म परमाणु विशेष शक्तिशाली है। तात्पर्य कि मेरे सूक्ष्म परिमाणुओं में पांच प्रकार का वर्ण दो प्रकार का गन्ध पांच प्रकार का रस और चार प्रकार का स्पर्श (शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष) होता है। वे सूक्ष्म परमाणु जब उदय में आते हैं तब फल देने में समर्थ होते हैं। वे जीवात्मा पर अपना प्रभाव इस प्रकार डालते हैं। जिससे

यह जीवात्मा जानने की इच्छा रखता हुआ भी पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को नहीं जान सकता, प्रत्युत जाने हुए को भी भूल जाता है। यह सब मेरे ही प्रभाव का फल है और मुझे यह स्मरण है कि मेरे इस उक्त प्रभाव को गौतम स्वामी के प्रति आपने स्वयं ही बतला दिया है[1]।

हे भगवन्! मैं दो प्रकार से आत्मा के ज्ञान को आवृत-आच्छादित करता हूँ, देशरूप से और सर्वरूप से, इस प्रकार

---

१ गौतम—"णाणावरणिज्जस्स णं भंते! कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स पुट्ठस्स बद्धफास-पुट्ठस्स संचियस्स चियस्स उवचियस्स आवागपत्तस्स विवागपत्तस्स फलपत्तस्स उदयपत्तस्स जीवेणं कम्मस्स जीवेणं निव्वत्तियस्स जीवेणं परिणामियस्स सयं वा उदिण्णस्स परेण वा उदीरियस्स तदुभएण वा उदीरिज्जमाणस्स गतिं पप्प ठितिं पप्प भवं पप्प पोग्गल-परिणामं पप्प कतिविधे अणुभावे पण्णत्ते?

भगवान—गोयमा! णाणावरणिज्जस्स णं कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पोग्गलपरिणामं पप्प दसविधे अणुभावे पं., तं०—सोतावरणे सोयविण्णाणावरणे नेत्तावरणे नेत्तविण्णाणावरणे घाणावरणे घाणविण्णाणावरणे रसावरणे रसविण्णाणावरणे फासावरणे फासविण्णाणावरणे जं वेदेति पोग्गलं वा पोग्गले वा पोग्गलपरिणामं वा वीससा वा पोग्गलाणं परिणामं तेसिं वा उदएणं जाणियव्वं ण जाणति जाणिउ कामे ण याणति जाणित्ताविण जाणति उच्छन्नणाणी यावि भवति णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं एस णं गोयमा! णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पोग्गलपरिणामं पप्प दसविधे अणुभावे पं०" (प्रज्ञापनासू. प.२३ उ. १)

मेरे दो स्वरूप हो जाते हैं[1]। (१) देशज्ञानावरण और (२) सर्व-ज्ञानावरण। मेरा प्रथम स्वरूप—देशज्ञानावरण-तो आत्मा के मति, श्रुत, अवधि, और मनः पर्यव, ज्ञान को आवृत करता है और मेरा दूसरा स्वरूप केवल ज्ञान का आच्छादक है, इस भांति मैं दोनों प्रकार से जीवात्मा पर शासन करता हूं, मेरे प्रभाव से प्रभावित हुआ यह जीवात्मा सत्य और असत्य का विवेक एवं हेय और उपादेय की परीक्षा भी नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त देव, मनुष्य, तिर्यंच, और नरकगति के भेद से जीवों की ८४ लाख प्रकार की योनियों की स्थिति का विस्तार अधिकतया मेरे ऊपर ही निर्भर है।

भगवान्—अब तुम यह बतलाओ कि जीवात्मा के साथ तुम्हारा सम्बन्ध कैसे हुआ? अर्थात् तुम्हारे अणुओं का इस जीवात्मा के साथ सम्पर्क होने का हेतु क्या है?

ज्ञानावरणीय—भगवन्! आप सब कुछ जानते हुए भी मुझ से पूछते हैं। यह आपकी अपार कृपा है। अस्तु, आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। यह जीवात्मा छः कारणों से मेरे पुद्गलों का उपार्जन करता है। अर्थात् इस आत्मा के साथ मेरा सम्बन्ध निम्नलिखित छः कारणों से होता है।

---

१ णाणावरणिज्जे कम्मे दुविहे पं०,, तं०,,—
देसणाणावरणिज्जे चेव सव्वणाणावरणिज्जे चेव—
(स्थानाङ्ग सूत्र स्था० २ उ. ४ सू० १०५)

(१) ज्ञान और ज्ञानवान् के प्रतिकूल चलना।

(२) विद्यागुरु का नाम गुप्त रखना उसका अपलापन करना।

(३) ज्ञानाभ्यासियों के अभ्यास में विघ्न डालना।

(४) ज्ञान और ज्ञानवानों के साथ द्वेष रखना।

(५) ज्ञान और ज्ञानियों की आशातना करना।

(६) ज्ञान तथा ज्ञानवानों के व्यभिचार को दिखाना।

इन छ कारणों से मेरा इस जीवात्मा के साथ संयोग होता है। अर्थात् यह जीवात्मा ज्ञान के आवरण मेरे सूक्ष्म परिमाणुओं का इन उपर्युक्त छ कारणों से संग्रह करता है[1]। जिस प्रकार उपनेत्र (चश्मा) में स्निग्ध पदार्थ के लग जाने से वह नेत्र की ज्योति को प्रकाशित करने के स्थान में उसके आवरण का कारण बन जाता है ठीक उसी प्रकार मैं भी आत्मा के ज्ञान गुण को आच्छादित करने में हेतुभूत हूँ। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि मेरे प्रभाव से इस जीवात्मा को पदार्थों का यथार्थ स्वरूप ही ज्ञात नहीं होता तो उनमें सम्यक् प्रवृत्ति

---

१ गौतम—णाणावरणिज्जकम्मासरीरप्पयोगबंधे णं भंते ? कस्स कम्मस्स उदएणं ?

भगवान्—गोयमा ! नाणपडिणीययाए णाणणिण्हवणयाए णाणंतराएणं णाणप्पदोसेणं णाणच्चासायणाए णाणविसंवादणाजोगेणं णाणावरणिज्ज-कम्मासरीरप्पयोगनामाए कम्मस्स उदएणं णाणावरणिज्जकम्मासरीरप्पयो-गबंधे,, (भगवती सू. श. ८ उ० ९)

अथवा निवृत्ति का प्रश्न ही दूर रह जाता है।

भगवन्! अधिक क्या कहूं जब तक मेरा सम्बन्ध विद्यमान है तब तक लाख प्रयत्न करने पर भी यह जीवात्मा जन्म-मरणादिरूप दुःख-परम्परा से छुटकारा प्राप्त नहीं कर सकता, यही मेरा अद्भुत प्रभाव है। बस इस से अधिक मुझे और कुछ निवेदन नहीं करना। प्रभु के समक्ष इस प्रकार भाषण करने के बाद ज्ञानावरणीय नाम के पुरुष ने तो अपना स्थान ग्रहण कर लिया अर्थात् वह बैठ गया और दूसरे पुरुष ने प्रभु का इशारा पाते ही अपना भाषण इस प्रकार आरम्भ किया—

(२) दर्शनावरणीय—भगवन्! मेरा नाम दर्शनावरणीय है। मैं इस जीवात्मा की दर्शनशक्ति को ढक लेता हूँ। यह पहिला व्यक्ति जिसने अपने प्रभाव की बड़ी २ डींगें मारी हैं— मेरे सामने कुछ भी महत्व नहीं रखता, मेरा प्रभाव तो इस जीवात्मा पर ऐसा पड़ता है कि उसके ज्ञान या अज्ञान की बात तो अलग रही मैं उसे निद्रा से भी मुक्त नहीं होने देता। मेरी नौ उत्तर प्रकृतियें-अवान्तरभेद-हैं जो कि इस जीवात्मा पर पूरा अधिकार जमाए हुए हैं, मेरे सूक्ष्म परमाणु इतने बलवान् हैं कि इस जीवात्मा को कुछ भी देखने नहीं देते। उनके विपाक का इस आत्मा को नौ प्रकार से अनुभव करना पड़ता है[1]। जैसे कि निद्रा, निद्रा—निद्रा, प्रचला, प्रचला—प्रचला

१. गौतम—"दरिसणावरणिज्जस्सणं भंते! कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स

और स्त्यानर्द्धी एवं चक्षुर्दर्शनावरण अचक्षुर्दर्शनावरण अवधि-दर्शनावरण और केवलदर्शनावरण।

निद्रा—सुखपूर्वक उठना।

निद्रानिद्रा—बहुत-सी आवाजें मारने पर भी बड़ी मुशकिल से जागना।

प्रचला—बैठे २ सो जाना।

प्रचला-प्रचला—चलते चलते सोजाना।

स्त्यानर्द्धी—दिन में अथवा रात में सोचे हुए काम को निद्रा की दशा में ही कर डालना।

चक्षुर्दर्शनावरण—नेत्र के सामान्य उपयोग का आवरण

जाव पोग्गलपरिणामं पण्ण कतिविधे अनुभावे पं० ? गो० ? दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पोग्गलपरिणामं पण्ण णवविधे अणुभावे पं०, तं०—णिद्दा, णिद्दा २ पयला, पयला २ थीणद्धी चक्खुदंसणावरणे अचक्खुदंसणावरणे ओहिदंसणावरणे केवलदंसणावरणे, जं वेदेति पोग्गलं वा पोग्गले वा पोग्गलपरिणामं वा वीससा वा पोग्गलाणं परिणामं तेसिं वा उदएणं पासियव्वं वा ण पासति पासि उकामेवि ण पासति पासित्ता वि ण पासति उच्छन्नदंसणी याविभवति दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस उदएणं एस णं गोयमा! दरिसणावरणिज्जे कम्मे एस णं गोयमा! दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पोग्गलपरिणामं पण्ण णवविधे अणुभावे पण्णत्ते॥" (प्रज्ञापना सू० पद २३ उ० १ सू० २६२)

अर्थात् नेत्र के द्वारा होने वाले पदार्थ के सामान्य बोध का आच्छादन।

अचक्षुर्दर्शनावरण—चक्षु से भिन्न श्रोत्रादि इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न होने वाले सामान्य बोध का आवरण।

अवधिदर्शनावरण—अवधि ज्ञान से होने वाले रूपी पदार्थ के सामान्य बोध को ढकने वाला।

केवलदर्शनावरण—संसार के समस्त पदार्थों के सामान्य बोध का आच्छादक।

हे भगवन्! जब मैं उदय में उतरता हूँ, तब उपर्युक्त नौ प्रकार से इस जीवात्मा को मेरे विपाक का अनुभव करना पड़ता है। मेरे प्रभाव से एक इन्द्रिय, और दो इन्द्रिय वाले जीवों के तो जन्म से ही नेत्र नहीं होते। तथा चार और पांच इन्द्रिय वाले जो जीव हैं, उनकी मैं आंखें नष्ट कर देता हूँ। आज जो संसार में अन्धे, बहरे और गूंगे आदि दिखाई देते हैं यह सब मेरी ही कृपा का फल है। इस जीवात्मा की दर्शन-शक्ति को रोकने की मेरे पुद्गलों में विशेष शक्ति है। यह जीवात्मा देखने की इच्छा रहने पर भी नहीं देख सकता। एवं बोलने की तीव्र अभिलाषा होने पर भी नहीं बोल सकता, यह मेरा प्रत्यक्ष प्रभाव है। जैसे कि मैंने ऊपर बतलाया है इस ज्ञानावरणीय से मेरा प्रभाव अधिक है। यह तो आत्मा के विशिष्ट—बोध को ही रोक सकता है। परन्तु मैंने तो इस जीवात्मा को सामान्य बोध से भी वंचित कर दिया है।

भगवान्—तुम्हारा यह गर्व-पूर्ण व्याख्यान तो सुन लिया अब तुम यह बतलाओ कि तुम्हारा इस जीवात्मा के साथ सम्बन्ध-मेल होने का क्या कारण है !

दर्शनावरणीय—भगवन् ! आप सब कुछ जानते हुए भी मुझ से पूछ रहे हैं ! अस्तु मैं ही बतलाये देता हूँ। ज्ञानावरणीय की भांति मेरे सम्बन्ध के भी छः कारण हैं—

(१) दर्शन और दर्शन वाले की अवहेलना तथा निन्दा करना।

(२) दर्शन और दर्शनयुक्त आत्मा के स्वाध्याय आदि धार्मिक क्रियाओं में बाधा डालना।

(३) जिससे दर्शन की प्राप्ति हुई हो उस गुरुदेव का अपलापन करना।

(४) दर्शन और दर्शनयुक्त आत्मा से द्वेष करना।

(६) दर्शन तथा दर्शनवाले आत्मा की आशातना करना।

इन छः कारणों से मेरे सूक्ष्म पुद्गलों का इस जीवात्मा के साथ सम्बन्ध होता है। जिनके विपाकोदय में यह जीवात्मा नौ प्रकार से फल का अनुभव करता है। भगवन्! मैं अपने

---

१ गौतम—दरिसणावरणिज्जकम्मासरीरप्पयोगबंधे णं भंते ! कस्स कम्मस्स उदयणं ? (भगवान्) गोयमा ! दंसणपडीणीययाए एवं जहाणाणावरणिज्जं नवरं दंसण नाम घेतव्वं जाव दंसणविसंवादणाजोगेणं दरिसणावरणिज्जकम्मासरीरप्पयोगनामाएकम्मस्स उदयणं जावप्पओगबंधे। (भगवती सू० शतक ८, उ० ६)

प्रभाव का क्या वर्णन करूं? एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक जितने भी जीव हैं उन सब पर मेरा एकछत्र राज्य है। पांच प्रकार के प्रमादों में सब से प्रथम, प्रथमनिद्रारूप में मेरा नाम आता है। एवं तीस कोटाकोटी सागरोपम की स्थिति रखने वाले मुझ से क्या कोई प्राणी पृथक् रह सकता है? अपितु नहीं रह सकता, इस लिए मेरे विपाकोदय में यह जीवात्मा किसी प्रकार से भी अभीष्ट फल को प्राप्त नहीं कर सकता। बस, इससे अधिक और मुझे इस समय कुछ नहीं कहना है।

(३) वेदनीय—इस प्रकार दर्शनावरणीय का भाषण समाप्त होने पर तीसरे वेदनीय पुरुष ने अपना वक्तव्य आरम्भ किया। उसने कहा—

भगवन्! दर्शनावरणीय ने जो कुछ कहा है वह केवल प्रलाप मात्र है। मेरे प्रभाव के सामने वह कुछ भी गौरव नहीं रखता। जब मैं इस जीवात्मा के उदयभाव में आता हूँ तब क्षण भर में उसे राजा से रंक और रंक से राजा इतना ही नहीं किन्तु सुखी से दुःखी और दुःखी से सुखी बना डालता हूं। बहुत से लोगों ने तो मेरे प्रभाव से परलोक को मानना भी छोड़ दिया है। जब कि वे मेरी कृपा से अत्यन्त दुःखी हुए जीव को देखते हैं तब वे कह उठते हैं कि बस यही प्रत्यक्ष नरक है। इससे अतिरिक्त और कोई नरक स्थान नहीं। और किसी अत्यन्त सुखी प्राणी को देखकर वे उसे ही

स्वर्ग समझ कर अन्य स्वर्ग-स्थान का निषेध करने लगते हैं। मेरी साता-सुखरूप और असाता दुःखरूप ये दो प्रकृतियें हैं, इन्हीं को सातावेदनीय और असातावेदनीय कहते हैं[1]। मेरी सातावेदनीय प्रकृति के उदय से जीव सुखी बन जाता है और असातावेदनीय प्रकृति के उदय से वह दुःख का अनुभव करता है। इन दोनों की अपेक्षा मेरे में यह विशेषता है कि जब मेरी सातावेदनीय प्रकृति का उदय होता है तब इन दोनों-ज्ञानावरण, दर्शनावरण-के रहने पर भी अर्थात् ज्ञान और दर्शन के न्यून होने पर भी उस व्यक्ति को लोग पूज्य दृष्टि से देखने लगते हैं। उसको प्रत्येक वस्तु इच्छानुसार प्राप्त होने लगती है। और विपरीत इसके जब मेरी असातावेदनीय प्रकृति का उदय होता है तब इस जीव को ज्ञान-दर्शन-सम्पन्न होने अर्थात् परम-विद्वान् और चक्षु आदि इन्द्रियों से सम्पूर्ण होने पर भी कोई नहीं पूछता। अधिक क्या कहूं संसार में जितना भी सुख और दुःख दृष्टिगोचर हो रहा है, वह सब मेरे ही चमत्कारी प्रभाव का फल है। मेरे सूक्ष्म दलिक जब फल देने को सन्मुख होते हैं तब इस जीवात्मा को आठ प्रकार से सुख अथवा दुःख के अनुभव होते हैं। साता-वेदनीय दलिकों के उदय से इस जीव को शब्दादि पांच

---

१ वेयणिज्जे कम्मे दुविहे पण्णत्ते तं. सातावेयणिज्जे चेव असाता-वेयणिज्जे चेव। (ठाणांग सू० स्थान द्वितीय, उ० ४, सू० १०५)

विषयों का पूर्ण सुख प्राप्त होता है, और मन, वचन, काया, का भी पूर्ण आनन्दमय सहयोग उपलब्ध होता है। और असातावेदनीय दलिकों के उदय होने पर इस जीव को उक्त आठ प्रकार के दुःखों का अनुभव करना पड़ता है।

सारांश कि सातावेदनीय के उदय से इस जीव को सुन्दर शब्द, सुन्दर रूप, सुन्दर गन्ध, सुन्दर रस, और सुन्दर स्पर्श की प्राप्ति के साथ मन-वचन और शरीर का भी पूर्ण सुख प्राप्त होता है। तथा असातावेदनीय के उदय से उक्त शब्दादि पांचों विषय उसे दुःखरूप में प्राप्त होते हैं। एवं मन-वचन और शरीर से भी वह सदा दुःखी रहता है।

हे स्वामिन्! मेरे प्रभाव से उत्पन्न होने वाले इष्टवियोग और अनिष्ट-संयोग से ऐसा कौनसा दुःख बाकी रह जाता है, जिसका अनुभव इस जीव को न करना पड़े, और उसको इष्ट संयोग तथा अनिष्ट वियोग से प्राप्त होने वाली सुख-सम्पत्ति का देने वाला भी मैं ही हूँ, यह मेरा प्रत्यक्ष प्रभाव है।

भगवान्—तुमारे बन्ध के कारण क्या हैं! अर्थात् किन

१.—सायावेयणिज्जस्स णं भंते? कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पोग्गल-परिणामं पप्प कतिविधे अणुभावे पण्णत्ते? गोयमा! सातावेदणिज्जस्स णं कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव अट्ठविधे अणुभावे पण्णते तं-मणुण्णासद्दा १ मणुण्णा रूवा २ मणुण्णा गंधा ३ मणुण्णा रसा ४ मणुण्णा फासा ५ मणो-सुहता ६ वयसुहया ७ कायसुहता ८ जं वेदेति पोग्गलं वा पोग्गले वा पोग्गल-

कारणों से तुम्हारा इस जीवात्मा के साथ सम्बन्ध होता है ? तात्पर्य कि तुम अपनी सुख देने वाली और दुःख देने वाली प्रकृति के बन्ध के हेतुओं का वर्णन करो।

वेदनीय—भगवन् ! आप सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होकर भी मुझ से पूछते हैं ? यह आप की अपार दया है, अस्तु अब मैं आपकी आज्ञानुसार आपके प्रश्न का उत्तर देता हूँ। (१) प्राणि-भूत-जीव-सत्व की अनुकम्पा से अर्थात् जीवों पर दया भाव रखने से, उनको दुःख न देने से, शोकातुर न करने

परिणामं वा वीससा वा पोग्गलाणं परिणामं तेसिं वा उदएणं सातावेदणिज्जं कम्मं वेदेति, एसणं गो० ! सायावेयणिज्जे कम्मे एस णं गो० ! सातावेयणिज्जस्स जाव अट्ठविधे अणुभावे पं०—असातावेयणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स-जीवेणं तहेव पुच्छा, उत्तरं च, नवरं अमणुण्णा सद्दा जाव कायदुहया एस णं गो ! असायावेयणिज्जे कम्मे एस णं गो० ! असातावेयणिज्जस्स जाव अट्ठविधे अणुभावे पं० ॥ (प्रज्ञा० प० २३ उ० १)

(१) "सायावेयणिज्जस्सकम्मासरीरप्पयोगबंधे णं भंते ! कस्स कम्मस्स उदयणं ? गोयमा ! पाणाणुकंपयाए, भूयाणुकंपयाए एवं जहा सत्तमसए दसमोद्देसए जाव अपरियावणयाए सायावेयणिज्जकम्मासरीरप्पयोगनामाए कम्मस्स उदएणं सायावेयणिज्जकम्मा जाव बंधे। असायावेयणिज्ज— पुच्छा ! गोयमा ! परदुक्खणयाए परसोयणयाए जहा सत्तमसए दसमोद्देसए जाव परियावणयाए असायावेयणिज्जकम्मा जाव पयोग बंधे। (भगवती सू० शतक ८ उ० ६)

"अत्थिणं भंते ! जीवाणं सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति ? हंता अत्थि,

से अश्रुपात न कराने से, न पीटने और पिटाने से, सन्ताप न देने से, और न ताड़नादि करने से, यह आत्मा मेरी सातावेदनीय नाम की प्रकृति का बन्धन करता है। और विपरीत इसके जीवों पर अनुकम्पा न करने, तथा उनको दुःख देने, सन्ताप देने, परिताप देने से, एवं पीटने पिटवाने और ताड़न करने से, यह जीव मेरी असातावेदनीय नाम की दूसरी प्रकृति को बाँधता है। अतः जो जीव, परलोक में सुख-प्राप्ति की अभिलाषा रखने वाले होते हैं, वे तो मेरी शुभ प्रकृति के सम्पादनार्थ भूतानुकम्पा में प्रवृत्त होते हैं। और जिन्हें मेरी अशुभ प्रकृति बन्ध करना अभीष्ट होता है, वे क्रूराशय होकर दूसरे

कहण्णं भंते ! जीवाणं सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति ? गोयमा ! पाणाणुकंपयाए भूयाणुकंपयाए जीवाणुकंपयाए सत्ताणुकंपयाए, बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपिट्टणयाए अपरियावणयाए एवं खलु गोयमा ! जीवाणं सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति, एवं नेरयाणवि, एवं जाव वेमाणियाणं ॥ अत्थिणं भंते ! जीवाणं असायवेयणिज्जकम्मा कज्जंति ? हंता अत्थि। कहण्णं भंते ! जीवाणं असायावेयणिज्जाकम्मा कज्जंति ? गोयमा ! परदुक्खणयाए परसोयणयाए परजूरणयाए परतिप्पणयाए परपिट्टणयाए परपरितावणयाए बहूणं पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं दुक्खणयाए सोयणयाए जाव परियावणयाए एवं खलु गोयमा ! जीवाणं असायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति। एवं नेरयाणवि, एवं जाव वेमाणियाणं" [भगव० सू० श० ७ उ० ६]

प्राणियों को पीड़ा पहुंचाने का यत्न करते हैं। और मैं उनको उनके कर्तव्यानुसार फल देने में भी कोई कसर नहीं रखता। सत्वानुकम्पी दयालु आत्माओं के लिये संसार में मैं अधिक से अधिक सुख-सम्पत्ति का सम्पादन करता हूं। और निर्घृण निर्दयी हिंसक जीवों को मैं कठोर से कठोर दंड देता हूँ। और मेरे दिये हुए दण्ड से इस जीव को जिस प्रकार की दुःख-यातना को भोगना पड़ता है, उसका स्मरण करते ही शरीर काँप उठता है। उसको देख कर दूसरे लोग भी त्राहि २ कर उठते हैं। यह है मेरा अतुलनीय प्रभाव। जिसका मुझे गर्व है।

इसके अतिरिक्त मेरी एक और विशेषता है कि केवल ज्ञान के प्राप्त होते ही ये दोनों ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, तो अपना बोरिया-बिस्तरा बान्ध कर चल देते हैं। परन्तु मुझे तो वहां भी स्थान प्राप्त है। अर्थात् मेरी वेदनीय प्रकृति की सत्ता वहां पर भी रहती है। तथा मेरी ये दोनों शुभाशुभ प्रकृतियें देव मनुष्यादि चारों गतियों में अखंड शासन कर रही हैं। अतः मेरी विशिष्टता अबाधित है। इस प्रकार वेदनीय नाम के तीसरे पुरुष का भाषण समाप्त होते ही अब मोहनीय नाम का चौथा पुरुष प्रभु के सन्मुख उपस्थित होता है।

(४) मोहनीय—भगवन्! आपने वेदनीय के लम्बे चौड़े व्याख्यान को सुन लिया है, मेरी दृष्टि में तो इसका कुछ भी मूल्य नहीं। इसने अपने महत्व की व्यर्थ डींग मारी है।

इसकी तो गणना अघाति कर्मों में है, जो कि आत्मा के ज्ञानदर्शनादि गुणों को किसी प्रकार की भी हानि नहीं पहुँचा सकते। अब रही इसके सुख दुःख की कहानी, सो यह तो केवल व्यावहारिक अर्थात् बाह्य दृष्टि पर ही निर्भर रहती है, कारण कि सुख और दुःख यह दोनों जीव की मान्यता पर ही स्थित हैं। इनसे आत्मा के वास्तविक गुणों को कोई आघात नहीं पहुँचता, जैसे सुदृढ़ प्रासाद-मकान के अन्दर बैठे हुए पुरुष पर बाहर से चलने वाले प्रचण्ड वायु और मूसलाधार वर्षा-जन्य उपद्रवों का कोई असर नहीं होता। उसी प्रकार अन्तर्दृष्टि आत्मा पर इस वेदनीय-जन्य सुख दुःख का कुछ भी प्रभाव नहीं होता। यह शास्त्रसम्मत बात है कि परमसुख और परमदुःख इन दोनों की उपस्थिति पर भी ज्ञान दृष्टि से समभाव में रमण करने वाला बलदेव इन दोनों की उपेक्षा से निर्वाण पद को प्राप्त कर लेता है। अतः सिद्ध हुआ कि अन्तर्दृष्टि जीव पर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं होता। हां! मेरे विषय में तो यह सब कुछ संगत हो सकता है। क्योंकि यावन्मात्र जीव संसार में विद्यमान हैं वे सब मेरे ही द्वारा जकड़े हुए हैं। मेरे प्रभाव से यह जीव मदिरापान किए हुए पुरुष की तरह उन्मत्त हो जाता है। मैं उसकी विवेक शक्ति को नष्ट करके उसे किंकर्तव्य-विमूढ बना देता हूँ। मेरा शासन, संसार के प्रत्येक जीव पर अखण्ड रूप से चल रहा है। संसार में पिता-पुत्र, स्त्री-पुरुष, और भाई-बहन, आदि का जो व्यवहार देखने में आता है वह सब

मेरे ही शासन से चल रहा है। यदि मैं एक घड़ी भर के लिए भी अपना शासन बन्द कर दूँ तो संसार में विप्लव मच जावे। कोई किसी को पूछे तक नहीं। निराश्रितों का आश्रय ही नष्ट हो जावे। यह तो मेरे बिछाए हुए मोह जाल से ही सारी व्यवस्था सुचारु रूप से चल रही है। इस लिए मेरे शासन की बराबरी इन तीनों में से किसी का शासन भी नहीं कर सकता। तथा मेरे सूक्ष्म पुद्गल जब उदय में आते हैं तब उनके विपाक का यह जीव पांच प्रकार से अनुभव करता है। यथा—

(१) सम्यक्त्व-वेदनीय।
(२) मिथ्यात्व-वेदनीय।
(३) सम्यक्त्वमिथ्यात्ववेदनीय।
(४) कषाय-वेदनीय।
(५) नोकषाय-वेदनीय[1]।

अर्थात् इन पांच रूपों में यह जीव मेरे विपाकोदय का

१. 'मोहणिज्जस्स णं भंते! कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव कतिविधे अणुभावे पएणत्ते! गोयमा! मोहणिज्जस कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पंचविधे अणुभावे पएणत्ते तं० सम्मत्तवेयणिज्जे, मिच्छत्तवेयणिज्जे, सम्मामिच्छत्तवेयणिज्जे, कसायवेयणिज्जे, नोकसायवेयणिज्जे, जं वेदेति पोग्गलं वा पोग्गले वा पोग्गलपरिणामं वा वीससा वा पोग्गलाण परिणामं तसिं वा उदएणं मोहणिज्जं कम्मं वे एइवा एस णं गोयमा! मोहणिज्जस्स कम्मस्स जाव पंचविधे अणुभावे पएणत्ते।" (प्रज्ञापना सू० पद २३ उ० १)

अनुभव करता है। फल भोगता है, एवं सम्यक्त्व में शंका, मिश्र-दर्शन-सम्यक्त्वमिथ्यात्व में रुचि, और मिथ्यात्वलीनता ये मेरे ही द्वारा प्राप्त होने वाले भाव हैं। -जिनका यह संसारी जीव अनुभव करता है। अस्तु, अब मेरा स्वरूप विस्तार भी सुनें? मेरे मुख्य स्वरूप दो हैं। जो कि १—दर्शनमोहनीय और २—चारित्रमोहनीय के नाम से प्रसिद्ध हैं।

इनमें पहिला दर्शनमोहनीय-सम्यक्त्ववेदनीय, मिथ्यात्व-वेदनीय और सम्यक्त्व-मिथ्यात्ववेदनीय भेदों से तीन प्रकार

१ "मोहणिज्जे णं भंते! कम्मे कतिविहे पएणत्ते! गोयमा! दुविहे पएणत्ते तं०—दंसणमोहणिज्जे य चरित्तमोहणिज्जे य. दंसणमोहणिज्जे णं भंते! कम्मे कतिविहे पएणत्ते? गोयमा! तिविहे पएणत्ते, तंजहा सम्मत्तवेयणिज्जे मिच्छत्तवेयणिज्जे य सम्मामिच्छत्तवेयणिज्जे, चरित्तमोहणिज्जे, णं भंते! कम्मे कतिविहे पएणत्ते! गोयमा! दुविहे पएणत्ते—तंजहा-कसायवेयणिज्जे णोकसायवेयणिज्जे, कसायवेयणिज्जेणं भंते! कतिविहे पएणत्ते? गोयमा! सोलसविहे पएणत्ते तं जहा-अणंताणुवंधीकोहे, अणंताणुवंधी-माणे, अणंताणुवंधीमायाए अणंताणुवंधीलोभे, अपचक्खाणे कोहे एवं माणे माया लोभे पचक्खाणावरणे कोहे एवं माणे माया लोभे। संजलणे कोहे एवं माणे माया लोभे। नोकसायवेयणिज्जेणं भंते! कम्मे कइविहे पएणत्ते! गोयमा! नवविहे पएणत्ते! तं जहा-इत्थिवेए, पुरिसवेए, णपुंसगवेए, हास, रती, अरती, भए, सोगे, दुगुंछा।" (प्रज्ञापना सू० पद २३ उ० २)

का है। दूसरे चारित्रमोहनीय के कषायवेदनीय और नो-कषायवेदनीय ये दो भेद हैं। इनमें भी कषायवेदनीय के १६ और नोकषायवेदनीय के ९ भेद हैं। यथा—

१—कषायवेदनीय—क्रोध, मान, माया और, लोभ ये कषाय हैं। इनके प्रत्येक के (१) अनन्तानुबंधी, (२) अप्रत्याख्यानी, (३) प्रत्याख्यानावरणीय और (४) संज्वलन रूप ये चार २ भेद हैं। इस प्रकार सब मिलाकर १६ भेद हो जाते हैं। यथा—

(क) अनन्तानुबन्धी, क्रोध, मान, माया और लोभ।

(ख) अप्रत्याख्यानी, क्रोध, मान, माया और लोभ।

(ग) प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया और लोभ।

(घ) संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ।

२—नोकषायवेदनीय के स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद हास्य, रति, अरति, भय, शोक और जुगुप्सा (घृणा) ये नौ भेद हैं। यह मेरा स्वरूप विस्तार है, जिसका कि मैंने अतिसंक्षेप से आपके सामने वर्णन किया है।

भगवन्! मेरे इस स्वरूप में सारा विश्व ही व्याप्त हो रहा है। मेरे इन उक्त रूपों में से कोई किसी स्वरूप का दास बन रहा है, और कोई किसी की उपासना में लगा हुआ है। कोई क्रोध के मारे दाँत पीस रहा है। कोई अभिमान में आकर गर्ज रहा है। कोई माया रच कर मित्रों को ठग रहा है। और कोई लोभ के वशीभूत होकर जघन्य पुरुषों की दासता कर रहा है। यह सब मेरी ही लीला का विस्तार है। मैंने अपनी

एकमात्र मोह-रज्जु से इन संसारी जीवों को इस प्रकार जकड़ रक्खा है कि उससे इनको छुटकारा मिलना बहुत ही कठिन है। सांसारिक प्राणियों में हास्य, शोक, भय, और संत्रास आदि के जो भाव दिखाई देते हैं, तथा परविद्वेष और स्वात्मीय से अनुराग, क्षुद्र जीवों से घृणा और बड़ों से प्रेम, इष्टप्राप्ति में हर्ष, अनिष्ट संयोग में विषाद आदि जिन आन्तरिक प्रेरणाओं से प्रेरित हुए ये संसारी उक्त प्रकार का नाटक कर रहे हैं, उसमें सूत्रधार रूप से मैं ही काम कर रहा हूँ।

भगवन्! यह तो आप जानते ही हैं कि मेरा स्वरूप एक विलक्षण प्रकार की तीव्र मदिरा के समान है, जिसकी मादकता से उन्मत्त हुआ पुरुष विवेकशून्य तो हो ही जाता है परन्तु उसमें यक्षावेश से भी अधिक उन्माद पैदा करने की शक्ति है[1] और यक्षावेश से प्राप्त उन्माद तो सुख भोग्य अथवा सुख त्याज्य है। किन्तु मेरे द्वारा प्राप्त हुआ उन्माद ऐसा नहीं, वह तो दुख से ही भोगा जाता है। और दुःखपूर्वक ही उससे छुटकारा मिलता है। इसके अतिरिक्त यह तो प्रसिद्ध ही है कि—जीवों की आत्म-विशुद्धि की तारतम्यता के आधार पर

(१) "कइ विहेणं भंते! उम्मादे पण्णत्ते? गोयमा! दुविहे उम्मादे पण्णत्ते। तंजहा—जक्खावेसे य, मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं। तत्थणं जेसे, जक्खावेसे सेणं सुहवेदणंतराए, सुहविमोयणंतराए चेव, तत्थणं जेसे मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं से णं, दुहवेदणंतराए, दुहविमोयणंतराए चेव।,, [भगव॰ सू॰ शत॰ १४ उद्देश॰ २]

स्थिर किये गये चौदह गुणस्थानों में से एकादशवें गुण-स्थान तक मेरा अटल राज्य है। अर्थात् प्रथम से लेकर एकादशवें गुणस्थान तक मेरी उत्तर प्रकृतियें बराबर शासन करती हैं। जिस समय यह जीव मेरे शासन को उल्लंघन करने का उद्योग करता है, अर्थात् बारहवें क्षीणमोह नामक गुण-स्थान में जाने को उद्यत होता है, उस समय में इस जीव को शासन-विद्रोह के उपलक्ष्य में ऐसी सजा देता हूँ कि—जिसे वह चिरकाल तक नहीं भूल सकता, तात्पर्य कि जिस समय यह जीव बारहवें गुणस्थान में जाने की तैयारी करता है उस समय में उसे ऐसा जोर का धक्का मारता हूँ कि वहां से गिर कर वह सब से नीचे के स्थान—प्रथम गुणस्थान में भी आ-कर ठहर सकता है। यहां से फिर इस स्थान तक पहुँचना इसके लिए अत्यन्त कठिन हो जाता है। इसके सिवाय मेरी मिथ्यात्वप्रकृति के व्यापक प्रभाव को भी देखिये—इससे प्रभावित हुआ जीव धर्म की अवहेलना, और अधर्म का पोषण, करने लगता है। तथा सत्य को मिथ्या, और मिथ्या को सत्य, पुण्य को पाप, और पाप को पुण्य, विद्वान् को मूर्ख, और मूर्ख को विद्वान्, मानने लगता है। कहां तक कहूँ एक मात्र काम—रागादिजन्य विषय सुख को ही परमसुख—मोक्ष-सुख मान-कर तद्भिन्न वास्तविक मोक्ष सुख को सर्वथा कल्पना-प्रसूत मानने की दुर्भावना को इस जीव में विशिष्ट स्थान देने का परम सौभाग्य मुझे ही प्राप्त है! यही मेरा बड़प्पन है।

(५) आयुः—मोहनीय का भाषण समाप्त होते ही अब पांचवाँ आयु नामक पुरुष प्रभु के सन्मुख उपस्थित होकर अपना व्याख्यान आरम्भ करता है—

भगवन् ! मेरा नाम आयु है, मैंने अपनी विपुल शक्ति से चारों ही गति के जीवों को बाँध रक्खा है।' इन मोहनीय आदि का प्रभाव मेरी स्थिति पर ही अवलम्बित है, जिस समय मैं अपनी स्थिति पूरी कर लेता हूँ ये बिचारे मुंह ताकते ही रह जाते हैं। इस जीवात्मा को भी बिना इच्छा के विवश हो कर यहां से परलोक के लिए प्रयाण करना पड़ता है। मेरी स्थिति में न्यूनाधिकता करने की किसी में भी शक्ति नहीं। मैं किसी की अनुकूलता या प्रतिकूलता को भी नहीं देखता, समय आने पर सब का बोरिया बिस्तरा बन्धवा देता हूं। यही मेरा अखण्ड शासन है। जिसकी—मेरी मर्यादा में संसार के समस्त जीव जन्तु बँधे हुए हैं। इन सब बातों के अतिरिक्त हे भगवन् ! मेरे में एक और विशेषता है जिसका सौभाग्य केवल मुझे ही प्राप्त है। वह है आप की कृपा। यह प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध है कि ज्ञानावरण दर्शनावरण और मोहनीय इन तीनों को ही आपने बहिष्कृत कर दिया है। ये तीनों आपके पास फटक नहीं सकते। दूर ही खड़े कांप रहे हैं। और मुझे आपने अपनाया हुआ है, यह मेरी कितनी विशेषता है। तथा इनके विषय में तो अनेक प्रकार के मत भेद दिखाई देते हैं, और मेरे विषय में

किसी प्रकार का मत भेद नहीं। यह जीवात्मा भली या बुरी किसी भी दशा में क्यों न हो मेरा शासन तो उसे मानना ही पड़ेगा।

भगवन्! मेरे पुद्गलों का चार प्रकार से अनुभव होता है। जैसे कि—नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु, और देवायु, मेरे पुद्गलों का परिणाम उनके उदय से चारों जातियों के जीव अपने अपने उदय के अनुसार मेरे पुद्गलों को भोगते हैं। जब तक इन पुद्गलों को वे भोग नहीं लेते तब तक प्राप्त हुए शरीर का परित्याग नहीं कर सकते। इसी लिए मैं कहता हूं कि संसार के सारे जीव मेरे वश में हैं। मेरी स्थिति को पूरी किये बिना एक गति से दूसरी गति में नहीं जा सकते। अर्थात् एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर को ग्रहण कर नहीं सकते, और जब मेरी स्थिति पूरी हो जाती है तब कोई ठहर भी नहीं सकता, अन्य सामान्य जीवों की तो बात अलग रही, भवस्थ—केवली भी मेरे विषय में

---

(१) "आउस्सणं भंते! कम्मस्स जीवेणं तहेवपुच्छा, गो॰? आउस्स णं कम्मस्स जीवेणं वद्धस्स जाव चउविहे अणुभावे पं॰ तं॰—नेरइयाउते, तिरियाउए, मणुयाउए, देवाउए, जं वेदेति पोग्गलं वा पोग्गले वा पोग्गल-परिणामं वा वीससा वा पोग्गलाणं परिणामं तेसिं वा उदएणं आउयं कम्मं वेदेति वा एस णं गोयमा? आउए कम्मे एस णं गो॰? आउकम्मस्स जाव चउविहे अणुभावे पण्णत्ते [प्रज्ञा॰ प॰ २३उ॰ १]

स्वतन्त्र नहीं है। इसके अतिरिक्त उपार्जन किये हुए शुभाशुभ कर्मों का फल भोगने के लिए मेरी सब से अधिक आवश्यकता है, यदि मेरा यहां पर कोई अधिकार नहीं होता तो यह जीवात्मा अपने किये हुए अच्छे या बुरे कर्मों का फल कैसे भोगता! तथा इन सातावेदनीयादि के उदय से जीवों को जो सुख प्राप्त हो रहा है वे उसके छोड़ने को कभी तैयार नहीं होते। यदि मेरा शासन उन पर न होता?। मैं उनकी इच्छाओं का अणुमात्र भी ख्याल न करता हुआ उनके कर्मानुसार एक से दूसरी योनि में बलात् ले जाता हूँ। यह मेरा अतुल प्रभाव है।

भगवान्—यह सत्य है कि-नरक, तिर्यंच, मनुष्य, और देव इन चारों गतियों में तुम्हारा अटल शासन है। परन्तु तुम यह बतलाओ कि इन गतियों में तुम्हारे बन्ध के कारण क्या हैं? अर्थात् किन कारणों से नरकायु और किन हेतुओं से तिर्यंचायु, और किन आचरणों से देव और मनुष्यायु का बन्ध होता है?

आयुः—भगवन्! आप सर्वज्ञ होकर भी मुझ से पूछ रहे हैं यह आपकी अपार दया ही है, अस्तु, मुझे आपकी आज्ञा-शिरोधार्य है लो सुनो? नरकायु का बन्ध चार कारणों से होता है[1]। जैसे कि—

---

1. "नेरइयाउय कम्मा सरीरप्पयोगबंधेणं भंते! पुच्छा, गोयमा! महारंभयाए, महापरिग्गहाए कुणिमाहारेणं, पंचिंदियवहेणं नेरइयाउयकम्मासरीरप्पयोग-

(१) महान आरम्भ करना।

(२) महान परिग्रह—अपरिमित तृष्णा रखना।

(३) मांस का आहार।

(४) पंचेन्द्रिय जीवों का वध करना।

तात्पर्य कि इन चार कारणों से यह जीव नरक गति की आयु का बंध करता है। तथा चार कारणों से यह जीव तिर्यंच पशु-पक्षी आदि गति की आयु को बांधता है। यथा—

(१) छलकपट करना।

(२) किये हुए छलकपट को ढांपना।

(३) मिथ्या भाषण या रिशवत लेना।

(४) कमती-ज्यादा तोलना, कम ज्यादा माप रखना।

एवं चार कारण मनुष्यायु के हैं—

(१) प्रकृति—स्वभाव से भद्र होना।

नामाए कम्मस्स उदएणं नेरइयाउय कम्मा सरीर जाव पयोगवंधे। तिरिक्ख-जोणिया उपकम्मा सरीरप्पयोग पुच्छा गोयमा! माइल्लियाए नियउल्लियाए अलियवयणेणं कूडतुलकूडमाणे णं तिरिक्खजोणियकम्मा सरीर जाव पयोग वंधे। मणुस्स आउयकम्मा सरीर पुच्छा, गोयमा! पगइ भद्दयाए, पगइ विणीययाए, साणुक्कोसयाए, अमच्छरियाए, मणुस्साउय कम्मा जाव-पयोग वंधे। देवाउय कम्मा सरीर पुच्छा, गोयमा! सरागसंजमेणं, संजमा-संजमेणं वालतवोकम्मेणं अकामनिज्जराए, देवाउय कम्मासरी जाव पयोगवंधे।
[भगवती सूत्र श० ८ उ० ६]।

(२) विनयशील होना।

(३) अन्य जीवों पर अनुकम्पा—दया करना।

(४) मत्सरता से रहित होना, अर्थात् किसी की निन्दा चुगली न करना।

इसी भांति देवायु के भी चार कारण हैं—

(१) सरागसंयम का पालन करना।

(२) संजमासंजम-श्रावक-धर्म का आचरण करना।

(३) बालतप का अनुष्ठान।

(४) अकाम-निर्जरा।

इन चार कारणों से देवायु का बन्ध होता है, ये हैं चारों गति में होने वाले आयु बन्ध के कारण। जिनका वर्णन मैंने आपके समक्ष कर दिया है[१]।

---

(१) नोट—पाठकगण! ऊपर के कथन से यह तो अच्छी तरह समझ गए होंगे कि इस जीव को नरक में ले जाने वाले कौन से काम हैं। और स्वर्ग में पहुंचाने वाले कौन से साधन हैं? एवं किस प्रकार के आचरणों से इस जीवात्मा को पशु पक्षी आदि की योनि प्राप्त होती है। और किन २ नियमों के पालन से यह आत्मा इस देव-दुर्लभ मानवभव को प्राप्त करता है। इससे प्रत्येक पुरुष को अपने प्रतिदिन के आचरणों से इस बात के समझने में कुछ भी कठिनाई नहीं हो सकती कि वह किस गति में जाने की तैय्यारी कर रहा है। और उसको इस देवदुर्लभ मानव जीवन की सार्थकता के लिए किस दिशा की ओर प्रस्थान करना चाहिए तथा पारलौकिक सद्गति के लिए उसे अपने जीवन में कितना परिवर्तन अपेक्षित है।

भगवन् ! मोहनीय ने भाषण करते समय अपने बन्ध के कारणों को आप से नहीं कहा, उसके बन्ध के छः कारण हैं। यथा—

(१) तीव्र क्रोध।

(२) तीव्र मान।

(३) तीव्र माया।

(४) तीव्र लोभ।

(५) तीव्र दर्शनमोह।

(६) चरित्रमोह।

अर्थात् इन छः कारणों से यह जीव मोहनीय कर्म को उपार्जन करता है।[1] परन्तु मोहनीय के विपाकोदय से नरकादि चार गतियों में जो फल भोगा जाता है, वह मेरी आज्ञा के अनुसार ही भोगा जाता है। चाहे, किसी भी कर्म का विपाकोदय हो उसकी सफलता मेरे ही आधीन है। कारण कि मेरी स्थिति सुनिश्चित है। उसमें न्यूनाधिकता को अणुमात्र भी अवकाश नहीं है। यद्यपि इस आत्मा में अनन्त बल है, निस्सीम पराक्रम है, तो भी मेरी बाँधी हुई आयु

१. "मोहणिज्जकम्मासरीरप्पयोग पुच्छा, गो० ! तिव्वकोहयाए, तिव्वमाणयाए, तिव्वमायाए, तिव्वलोभाए, तिव्वदंसणमोहणिज्जयाए, तिव्वचरित्तमोहणिज्जयाए मोहणिज्जकम्मासरीरप्प जावपयोगबंधे।

(भगवती सू० श० ८ उ० ९)

की मर्यादा को यह भी नहीं तोड़ सकता। इसके अतिरिक्त मेरी स्थिति सोपक्रमी और निरुपक्रमी, ऐसी दो प्रकार की मानी जाती है। इनमें यह भी सोपक्रमी स्थिति तो शस्त्रादि के तीव्र आघात से व्यवहार पक्ष में शीघ्र ही पूरी हो जाती है। और दूसरी अपने नियत समय पर ही पूरी होती है। बाहर के सैंकड़ों शस्त्रादि निमित्तों के मिलने पर भी वह अपने नियत समय पर ही पूरी होगी। मेरी इस उभयविध स्थिति में सारे विश्व के जीव बन्धे हुए हैं। तथा मेरी एक और विशेषता को भी सुनें—प्राणियों की जन्म और मृत्यु ये दोनों ही मेरे अधीन हैं। यह जीव मृत्यु से पहिले आगामी भव के लिए जब तक मेरा अर्थात् आयु बन्ध नहीं कर लेता, तब तक उसकी मृत्यु ही नहीं होती[1]। तथा मेरी एक और भी

१. इसका तात्पर्य यह है कि आयु की मर्यादा पूरी होने पर ग्रहण किये हुए शरीर का त्याग करने के बाद इस जीवात्मा को अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ऊंची नीची देव मनुष्य आदि जिस भी योनि में जाना होता है उसका निश्चय हो जाने के बाद ही यह आत्मा अपने पहिले शरीर का त्याग करता है। कारण कि मोक्ष-प्राप्ति से पूर्व जब तक उसके समस्त कर्म क्षीण नहीं हुए तब तक उसने किसी न किसी योनि में जन्म अवश्य लेना है और जब तक उसका निश्चय नहीं हो जाता तब तक यह आत्मा स्वीकृत पूर्व-शरीर को त्याग कर जावेगा कहां ?। इस सम्बन्ध में परम विशुद्ध योग अथवा ज्ञान बल से परम सत्य का निश्चय करने वाले महा-

विलक्षणता है, इन मोहनीय आदि का बन्ध तो यह जीव समय २ पर न्यूनाधिक रूप में करता है, परन्तु मेरा बन्ध तो सारी आयु में केवल एक ही वार होता है। और पहिले वह भी आयु के तीसरे भाग में।

इसके सिवाय मेरी एक और विशेषता भी ध्यान देने योग्य है, आम जनता में मेरा कितना आदर है, यह इससे भली भांति ज्ञात हो जावेगा। यदि किसी को आशीर्वाद देना

पुरुषों का यही कथन है कि आयु के समाप्त हो जाने पर इस औदारिक स्थूल शरीर को त्याग कर मोक्षभावी कार्मणशरीर—सूक्ष्मशरीर को साथ लेकर स्वकृत शुभाशुभ कर्मों के अनुसार जिस किसी योनि में इस आत्मा को जाना होता है उस योनि के अनुरूप शरीर को धारण करने के लिए वह प्रस्थान करता है, परन्तु प्रस्थान करने से पहले अर्थात् स्वीकृत-शरीर का त्याग करने के पूर्व ही इस जीव ने अमुक योनि में जाना है और अमुक समय तक वहां रहना है, यह सब कुछ प्रथम ही निश्चित हो जाता है। बस इस समय की मर्यादा का ही दूसरा नाम आयु का बन्ध है। हमारा इस समय का मनुष्यभव भी हमें इसी उक्त सुनिश्चित सिद्धान्त के अनुसार मर्यादितरूप में प्राप्त हुआ है। जैनशास्त्रों का यह कथन है कि नियत आयु के तीसरे भाग में यह जीव अपनी भावी आयु को बांध लेता है। अर्थात् अग्रभावी जन्म की मर्यादा को निश्चित कर लेता है। परन्तु छद्मस्थ—अल्पज्ञान वाला होने से उसे इस भावी आयु बन्ध का ज्ञान नहीं होता।

हो तो उस समय मेरी ही वृद्धि का आदेश किया जाता है। शिष्य के प्रणाम करने पर गुरु यही कहता है-आयुष्मान् भव सौम्य! (हे सौम्य!—प्रिय दर्शन? तू आयु वाला हो)। पुत्र के प्रणाम में माता पिता का यह आशीर्वाद तो आबाल गोपाल प्रसिद्ध है। बेटा तू-जीता रह! तेरी सौ वर्ष की आयु हो[1]।

देव! औरों की बातें तो अलग रही आप स्वयं श्रमणों को आयु वाले कह कर पुकारते हैं॥ (समणाउसो) हे आयुष्य वाले श्रमणो?। तथा सातवें नरक के जीवों का दीर्घ-कालीन दुःख, और छब्बीसवें-देवलोक के देवों का सुख, ये दोनों मेरे ही आश्रित हैं॥ इससे सिद्ध हुआ कि मेरा महत्व इन सबकी अपेक्षा अधिक है, बस भगवन्! यही मेरा वक्तव्य है॥

(६) **नाम**—आयु के बाद छटा नाम संज्ञा वाला पुरुष अपना वक्तव्य प्रकाशित करने के लिए प्रभु के समक्ष उपस्थित हो कहने लगा—

भगवन्! आयु ने अपनी प्रगल्भता के विषय में जो कुछ भी कहा है, उसमें अतिशयोक्ति बहुत है। मेरा महत्व भी इससे कम नहीं है। जीव के शरीर की रचना मेरे द्वारा ही होती है, आयु की स्थिति अटल है, उसमें किसी प्रकार की भी न्यूनाधिकता नहीं हो सकती, यह सब कुछ ठीक है परन्तु जब तक शरीर की ही रचना नहीं हुई तब तक

(१) जीवे पुत्ता वास सयं, ति तुंदुलवयालिय पयन्ना॥

आयु किसकी और स्थिति किसकी ? अतः वास्तव में विचार किया जाय तो मेरे द्वारा निर्माण हुये शरीर पर ही आयु का सब कुछ निर्भर है। मेरा काम भिन्न २ शरीरों को उत्पन्न करना और उनके अंगोपागों का निर्माण करना है। संसार में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त वनस्पति से लेकर मनुष्य पर्यन्त—जितनी भी सुगम या दुर्गम भली या बुरी आकृतियें-या शरीरों की रचनाएं दृष्टिगोचर हो रही हैं, वे सब मेरे ही द्वारा निर्मित हुई हैं। अपने भीतर सुन्दर सफेद मोतियों को छिपाए हुए अनार की गोलाकार आकृति, पर्दे के अन्दर छिपे हुए मन को लुभाने वाले मक्की के पंक्तिबद्ध दाने, पोस्त की थैली में भरे हुए खश २ के बारीक गोल मोती, चित्ताकर्षक पुष्प-लताओं के विविध स्वरूप, मयूर के पंख, और रत्नों की कान्ति, आदि आदि जड़ चेतन जगत् की जितनी सुन्दर और असुन्दर रचनाएं हैं, ये सब मेरी ही कला कौशल के अद्भुत नमूने हैं,

मेरी शुभ और अशुभ नाम की दो प्रकृतियें हैं। उनमें संसार की सभी प्रकार की सुन्दर-दर्शनीय रचनाएँ तो शुभ प्रकृति के फल स्वरूप हैं और संसार समस्त प्रकार की भद्दी रचनों का कारण मेरी अशुभ प्रकृति है। तात्पर्य कि संसार की प्रत्येक वस्तु का अच्छा बुरा स्वरूप मेरी—नाम की इन्हीं दो प्रकृतियों के द्वारा निर्मित हुआ है।

भगवन् ! मेरी इन दो प्रकृतियों में प्रत्येक का १४ प्रकार

से अनुभव करने में आता है।[1]

यथा—इष्टरूप, इष्टशब्द, इष्टगन्ध, इष्टरस, इष्टस्पर्श,—इष्टगति, इष्टस्थिति, इष्टयशःकीर्ति, इष्टउत्थानकर्म बलवीर्य पुरुषाकार पराक्रम, इष्टस्वर, कान्तस्वर, प्रियस्वर, मनोज्ञ-स्वर, इस भान्ति शुभ नाम के उदय होने पर शुभ नाम के पुद्गलों का परिणाम १४ प्रकार से भोगा जाता है। और अशुभ नाम का अनिष्टशब्द, अनिष्टरूप, और अनिष्टरस आदि विपरीत रूप में १४ प्रकार से अनुभव किया जाता है। इसके अतिरिक्त मेरी उत्तर प्रकृतियें अवान्तर भेद से ४२ हैं[2]।

१ "सुहणामस्स णं भंते। कम्मस्स जीवेणं पुच्छा। गोयमा! सुहणामस्स णं कम्मस्स जीवेणं चउद्दसविवे अनुभावे पं० तं०—इट्ठासद्दा १, इट्ठारूवा, २, इट्ठागंधा ३, इट्ठारसा ४, इट्ठाफासा ५, इट्ठागती ६, इट्ठाठिती ७, इट्ठे-लावराणे ८, इट्ठाजसोकित्ती ६, इट्ठे उट्ठाणकम्मबलविरियपुरिसक्कारपरक्कमे, १० इट्ठस्सरया, ११ कंतस्सरया, १२ पियस्सरया, १३ मणुगणस्सरया, १४ जंवेदेति पोग्गले वा पोग्गले वा पोग्गलपरिणामं वा वीससा वा पोग-लाणं परिणामं तेसिं वा उदएणं सुभणामं कम्मं वेए इ एसणं गोयमा! सुहणाकम्मे एस णं गो० ? सुभणामस्स कम्मस्स जाव चउद्दसविधे अनुभावे पराणत्ते। दुहणामस्स णं भंते ? पुच्छा, गो० ? एवं चेव, णवरं अणिठा सद्दा जाव हीणस्सरया दीणस्सरया अकंतस्सरया जंवेदेति सेसं तं चेव जाव चउद्द-सविधे अनुभावे पराणत्ते [प्रज्ञा० प० २२। उ० १]

२ णामे णं भंते! कम्मे कतिविधे पराणत्ते ?, गोयमा ? बायाली-

सतिविहे पण्णत्ते ? तंजहा—१ गतिनामे, २ जातिनामे, ३ सरीरनामे, ४ सरीरोवंगनामे, ५ शरीरबंधणनामे, ६ सरीरसंघयणनामे, ७ संघायणनामे, ८ संठाणनामे, ९ वण्णणामे, १० गंधणामे, ११ रसणामे, १२ फासणामे, १३ अगुलघुनामे, १४ उवघायणामे, १५ पराघायणामे, १६ आणुपुव्विणामे, १७ उस्सासणामे, १८ आयवणामे, १९ उज्जोयणामे, २० विहायगतिणामे, २१ तसनामे, २२ थावरणामे, २३ सुहुमनामे, २४ बादरणामे, २५ पज्जत्तणामे, २६ अपज्जत्तणामे, २७ साहारणसरीरणामे, २८ पत्तेय-सरीरणामे, २९ थिरणामे, ३० अथिरणामे, ३१ सुभणामे, ३२ असुभणामे, ३३ सुभगणामे, ३४ दुभगणामे, ३५ सूसरणामे, ३६ दूसरणामे, ३७ आदेज्ज-णामे, ३८ अणादेज्जणामे, ३९ जसोकितिणामे, ४० अजसोकित्तिणामे, ४१ णिम्माणणामे, ४२ तित्थगरणामे। गतिनामे णं भंते! कम्मे कतिविहे पण्णत्ते ?, गोयमा ? चउव्विहे पण्णत्ते ! तंजहा—निरयगतिणामे, तिरियगतिणामे, मणुस्सगतिणामे, देवगतिणामे, जातिणामे णं भंते ! कम्मे पुच्छा, गोयमा ? पंचविहे पण्णत्ते ?, तंजहा—एगिंदियजातिणामे जाव पंचिंदियजातिणामे,। सरीरनामे णं भंते ! कम्मे कतिविधे पण्णत्ते ?, गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते, तंजहा-ओरालियसरीरनामे जाव कम्मगसरीरणामे, सरीरोवंगनामे णं भंते ? कतिविधे पण्णत्ते ?, गोयमा ? तिविधे पण्णत्ते ? तंजहा—ओरालियसरीरो-वंगणामे वेउव्वियसरीरोवंगणामे आहारगसरीरोवंगणामे, सरीरबंधणनामे णं भंते ? कम्मे कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ? पंचविधे पण्णत्ते ? तंजहा—ओरालियसरीरबंधणणामे जाव कम्मगसरीरबंधणनामे, सरीरसंघायणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ? पंचविधे पण्णत्ते तंजहा—ओरालिय-

उनके नाम इस प्रकार हैं—

१ गतिनाम—जिस में जीव गमन करता है।

२ जातिनाम—जिससे जीव की पहचान होती है।

सरीरसंघायणामे, जाव कम्मगसरीरसंघायनामे, संघयणनामे णं भंते! कतिविधे पराणत्ते?, गोयमा? छव्विहे पराणत्ते!, तंजहा—वइरोसभनाराय संघयणनामे, उसहनारायसं० नारायसंघ० अद्धनारायसं० कीलियासंघयणणामे, छेवट्टसंघयणनामे, संठाणनामे णं भंते? कतिविधे पराणत्ते?, गोयमा? छव्विहे पराणत्ते? तंजहा—समचउरंससंठाणनामे, निग्गोहपरिमंडलसंठा० साइसं० वामणसंठाणणामे, खुज्जसंठाणणामे हुंडसंठाणनामे, वराणनामे णं भंते? कम्मे-कतिविधे पराणत्ते? गोयमा? पंचविधे पराणत्ते, तंजहा—कालवराणनामे जाव सुक्किलवराणनामे, गंधनामे णं भंते? कम्म पुच्छा? गोयमा? दुविहे पराणत्ते तंजहा—सुरभिगंधनामे, दुरभिगंधनामे, रसनामे णं पुच्छा? गोयमा? पंचविधे पं० तंजहा—तित्तरसनामे जाव मुहुररसनामे, फासनामे णं भंते! पुच्छा! गोयमा? अट्ठविहे पराणत्ते तंजहा—कक्खडफासनामे जाव लहुयफासनामे, अगुरुलहुयनामे एगागारे पराणत्ते, उवघायनामे एगागारे पराणत्ते, पराघातनामे एगागारे पराणत्ते, आणुपुव्विणामे, चउव्विहे पराणत्ते तंजहा—नेरइय आणुपुव्वीणामे जाव देवाणुपुव्वीणामे, उस्सासनामे एगागारे पराणत्ते, सेसाणि सव्वाणि एगागाराइं पराणत्ताइं, जाव तित्थगरनामे, णवरं विहायगतिणामे दुविधे पं० तं०—पसत्थविहायगइनामे अपसत्थ विहायगतिनामे य........"

[प्रज्ञा० सू० पद० २३ उद्दे० २]

३ शरीरनाम—जीव के रहने का स्थान।

४ शरीर के आंगोपांग—शरीर के अवयव।

५ शरीर के बन्धन—शरीर के पुद्गलों का सम्बन्ध।

६ शरीरसंघातन—शरीर के पुद्गलों का एकत्र होना।

७ संघयन—शरीर का पराक्रम।

८ संस्थान—शरीर का आकार।

९ वर्ण—रंग।

१० गंध—वास।

११ रस—आस्वाद।

१२ स्पर्श—जिसका त्वचा से अनुभव होता है।

१३ अगुरुलघु—जो न हलका हो न भारी।

१४ उपघात—जिसके द्वारा अपने शरीर से अपना घात होवे जैसे—झाड़ में उलझने से रोझ मारा जाता है।

१५ पराघात-अन्य का तेज प्रताप सहन न कर सके, तथा अपने शरीर से अन्य का घात होवे। जैसे—सर्पादि।

१६ आनुपूर्वी—विग्रहगति में जीव को अपने उत्पत्ति स्थान पर पहुंचाना।

१७ उच्छ्वास—सुख से श्वासोच्छ्वास लेना।

१८ आत्ताप—सूर्यविमान के समान प्रतापवाला।

१९ उद्योत—चन्द्रविमान के सदृश उद्योतवंत शरीर वाला।

२० विहायसगति—आकाश में गति करने योग्य शरीर वाला।

२१ त्रस-द्वीन्द्रियादि।

२२ स्थावर-पृथिव्यादि।

२३ सूक्ष्म-छोटे शरीर के धारक।

२४ बादर-बड़े शरीर वाले।

२५ पर्याप्त-पूर्णपर्याप्तियों वाले।

२६ अपर्याप्त-अपूर्ण पर्याप्तियों वाला।

२७ साधारण-एक शरीर में अनन्तजीवों वाला।

२८ प्रत्येक-एक शरीर में एक ही जीववाला।

२६ स्थिर-मजबूत हड्डियों वाला।

३० अस्थिर-शिथिल हड्डियों वाला।

३१ शुभनाम-सुन्दर शरीर वाला।

३२ अशुभनाम-भद्दे-खराब शरीर वाला।

३३ सुभगनाम-सब को प्रिय लगने वाला।

३४ दुर्भगनाम-अप्रिय लगने वाला।

३५ सुस्वर-मधुर स्वरवाला।

३६ दुस्वर-खराब स्वरवाला।

३७ आदेयनाम-जिसके वचन सब को मान्य होवें।

३८ अनादेयनाम-जिसका वचन कोई भी न माने।

३६ यशःकीर्तिनाम-यश और कीर्ति फैलाने वाला।

४० अयशःकीर्तिनाम-अपयश और अपकीर्ति वाला।

४१ निर्माणनाम-शरीर के सर्व अंगोपांग को यथास्थान में स्थिर रखने वाला।

४२ तीर्थंकरनाम-तीर्थंकर पद को प्राप्त कराने वाला।

ये ४२ प्रकार की भेरी उत्तर प्रकृतियें हैं। अब इन में प्रत्येक के भेद प्रकारों को भी सुनिये ? यथा—

(१) गति-नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, और देवगति, ये चार भेद गति नाम के हैं।

(२) जाति के पांच भेद हैं—(१) एकेन्द्रिय, (२) द्वीन्द्रिय, (३) त्रीन्द्रिय, (४) चतुरिन्द्रिय, (५) पञ्चेन्द्रिय।

(३) शरीर-नाम के पांच भेद हैं—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, और कार्मण।

(४) अंगोपांग के-औदारिक अंगोपांग, वैक्रिय अंगोपांग, और आहारक अंगोपांग ये तीन भेद हैं[1]।

(५) शरीर बन्धन के पांच भेद हैं—औदारिक शरीर बन्धन, वैक्रिय शरीर बंधन, आहारक शरीर बंधन, तैजस शरीर बंधन, और कार्मण शरीर बंधन[2]।

---

(१) अत्यन्त सूक्ष्म होने से तैजस और कार्मण शरीर के अंगोपांग नहीं होते हैं।

(२) जिस कर्म के उदय से प्रथम ग्रहण किये हुए-औदारिकादि शरीर पुद्गलों के साथ गृह्यमाण औदारिकादि पुद्गलों का आपस में सम्बन्ध हो उसका नाम बन्धन है। तात्पर्य कि जिस प्रकार लाख या गोंद आदि से दो पदार्थ जोड़ दिये जाते हैं—उसी प्रकार यह बन्धन नाम कर्म औदारिक आदि शरीरों में शरीर नाम से पृथक् ग्रहण किये हुए और वर्तमान में ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलों को आपस में जोड़ देता है—सम्बन्ध करा देता है।

(६) संघातन के भी—औदारिक शरीर संघातन, वैक्रिय शरीरसंघातन, आहारक शरीरसंघातन, तैजस शरीरसंघातन, और कार्मण शरीर संघातन, ये पांच भेद[1] हैं।

(७) संहनन के ६ भेद हैं—

यथा—(१) वज्र ऋषभ नाराच।
(२) ऋषभनाराच।
(३) नाराच।
(४) अर्धनाराच।
(५) कीलक।
(६) सेवार्त–या छेद वृत्त संहनन[2]।

---

(१) जिस कर्म के उदय से शरीरनाम से प्रथम ग्रहण किये हुए और वर्तमान में ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलों का आपस में सान्निध्य स्थापित हो उसे सङ्घातन नाम कर्म कहते हैं। गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों को परस्पर में संनिहित करने समीप में लाने का काम संघातन का है जैसे—गठड़ी बान्धने के लिए बिखरे हुए घास के तिनकों को एकत्रित किया जाता है उसी प्रकार संघातन नाम कर्म पुद्गलों को एक दूसरे के संनिहित करता है, और बन्धन नामक उनको बाँध देता है।

(२) वज्र का अर्थ खीला (कील) ऋषभ का वेष्टनपट्ट और नाराच का अर्थ है दोनों तर्फ का मर्कट बन्ध अतः मर्कट बन्ध से कसी हुई दोनों हड्डियों के ऊपर तीसरी हड्डी का खीला जिसमें लगा हुआ हो उसका नाम वज्रऋषभ-नाराच संहनन है (१) जिसमें बाकी सब कुछ तो ऊपर की भांति ही हो परन्तु तीनों हड्डियों को भेदने वाला खीला न हो वह ऋषभ नाराच संहनन कहलाता

(८) संस्थान के भी छै भेद हैं। यथा—

(१) समचतुरस्रसंस्थान—सर्व अंगोंपांग से पूर्णप्रमाणोपेत शरीर।

(२) न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान—बड़ के समान नाभि से ऊपर अच्छा और नीचे से खराब शरीर।

(३) सादिसंस्थान—नाभि से नीचे के शरीर के अवयव पूर्ण और ऊपर के न्यूनाधिक जिस में हों वैसा शरीर।

(४) वामनसंस्थान—ठिंगना शरीर।

(५) कुब्जसंस्थान—कुबड़ा शरीर।

(६) हुंडकसंस्थान—आधे जले हुए मुर्दे जैसा शरीर।

(९) वर्ण नाम के भी पांच भेद हैं। १ कृष्ण, २ नील, ३ लोहित, ४ पीत और ५ शुक्ल।

(१०) गंध नाम के सुरभि और दुरभि ये दो भेद हैं।

(११) रस नाम के—तिक्त, कटु, कषाय, आम्ल और मधुर ये पांच भेद हैं।

(१२) स्पर्श नाम के आठ भेद हैं, यथा—१ गुरु, २ लघु,

है। (२) जिसमें दोनों तर्फ मर्कट बन्ध तो हो परन्तु वेष्टन खीला न हो वह नाराच संहनन है (३) एक तर्फ मर्कटबन्ध और दूसरी तर्फ खीला हो उसे अर्ध नाराच कहते हैं, (४) जिसमें केवल खीले से ही हड्डियां जुड़ी हुई हों वह कीलक संहनन कहलाता है। (५) जिसमें मर्कट बन्ध आदि कुछ भी न हो केवल हड्डियां ही आपस में जुड़ी हुई हों उसे सेवार्त कहते हैं॥ (१)

३ मृदु, ४ खर, ५ शीत, ६ उष्ण, ७ स्निग्ध और ८ रूक्ष।

(१३, १४, १५) अगुरुलघुनाम, उपघातनाम, और पराघात-नाम, इन तीनों का कोई भेद नहीं।

(१६) आनुपूर्वी के चार भेद हैं, यथा—१ देवानुपूर्वी, २ मनुष्यानुपूर्वी, ३ तिर्यंचानुपूर्वी और ४ नरकानुपूर्वी।

इसके आगे केवल विहायोगति को छोड़ कर उच्छ्वास नाम से लेकर तीर्थंकर नाम पर्यन्त सब एक ही प्रकार के हैं। किसी का अवान्तर भेद नहीं है। विहायोगति नाम के प्रशस्त और अप्रशस्त ये दो भेद हैं। हाथी बैल की तरह चलना, प्रशस्त। और ऊंट गधे आदि की भान्ति चलना अप्रशस्त गति कहलाती है।

वीतराग! मेरे इन भेदानुभेदों से जगत में चलने वालों को मेरे अखण्ड शासन की व्यापकता का भली भांति परिचय मिल जाता है। कुछ लोगों का ख़्याल है कि जगत् में इस प्रकार के रचना वैचित्र्य का कोई और कारण है, जो कि ईश्वर के नाम से प्रसिद्ध एक स्वतन्त्र व्यक्ति है, परन्तु उन लोगों की यह कल्पना तभी तक है जब तक वे मेरे वास्तविक स्वरूप को नहीं समझ पाते। मेरे स्वरूप को समझ लेने के बाद उनकी इस कल्पना में कुछ भी महत्त्व नहीं रह जाता।

भगवान्—अच्छा! अब तुम अपने बन्ध के कारण बतलाओ? तुम्हारी शुभ और अशुभ दोनों प्रकृतियों को यह

जीव किन २ कारणों से बाँधता है ?

नाम—भगवन् ! आप सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं, संसार के किसी पदार्थ का भी स्वरूप आप से छिपा हुआ नहीं है। यह तो मेरा एक प्रकार से उपहास कर रहे हैं, अस्तु आप की आज्ञा शिरसा वन्दनीय और पालनीय है।

भगवन् ! मेरी शुभ प्रकृति का बन्ध चार कारणों से होता है और अशुभ प्रकृति के बांधने के भी चार ही कारण हैं।

(१) शुभ नाम के बांधने में काया की सरलता, भाव की सरलता, भाषा की सरलता और अविसंवादीयोग, ये चार कारण हैं और विपरीत इसके काया की कुटिलता, भाव की कुटिलता, भाषा की कुटिलता, और विसंवादीयोग इन चार कारणों से अशुभ नाम का बन्ध होता है।

स्वामिन् ! जो लोग बुद्धिमान् हैं वे तो मेरी शुभ प्रकृति का सम्पादन करके संसार में आदरणीय होते हैं। और मूर्ख मेरी अशुभ प्रकृति के उपार्जन से अनादरता के भाजन बनते हैं। अस्तु ! अब मैं अपना वक्तव्य समाप्त करता हुआ अपना स्थान ग्रहण करता हूं।

---

(१) सुभनामकम्मा सरीरपुच्छा ? गोयमा ? कायउज्जुययाए भावुज्जुययाए, भासुज्जुययाए, अविसंवादणजोगेणं सुभनामकम्मासरीरजाव पयोगबंधे। असुभनामकम्मा सरीरपुच्छा ? गो० ? कायअणुज्जुययाए, भावअणुज्जुययाए, भासअणुज्जुययाए, विसंवायणाजोगेणं असुभनामकम्मा जाव पयोगबंधे। [भगव० सू० श० ८ उ० ६] ॥

(७) गोत्र—नाम के बाद अब प्रभु के समक्ष गोत्र का वक्तव्य आरम्भ होता है। वह बोला—

भगवन्! मेरा नाम गोत्र है, संसार में इस जीव को ऊंचा और नीचा बनाने में सब से अधिक मेरा ही हाथ है। उच्च और नीच इन दो शब्दों को व्यावहारिक स्वरूप देना मेरा ही काम है। संसार में प्रचलित उच्च नीच प्रणालि का आद्य संचालक मुझे ही माना गया है। कारण कि मेरे दो स्वरूप हैं, एक उच्च, दूसरा नीच, मेरे उच्च स्वरूप की उपासना करने वाला जीव सब प्रकार से उच्च दिखाई देता है। और नीच स्वरूप को अपनाने वाला नीच बन जाता है। मेरे इन दोनों स्वरूपों का यह जीव आठ प्रकार से अनुभव करता है[1]। इनमें जब मेरे उच्च स्वरूप के पुद्गलों का विपाकोदय होता है अर्थात् वे फल देने को सन्मुख होते हैं तब इस आत्मा को विशिष्ट-

(१) उच्चागोत्तस्स णं भंते? कम्मस्स जीवेणं पुच्छा? गोयमा? उच्चागोत्तस्स कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव अट्ठविहे पं० तं०—१ जातिविसिट्ठया, २ कुलविसिट्ठया, ३ बलविसिट्ठया, ४ रूवविसिट्ठया, ५ तवविसिट्ठया, ६ सुववि०, ७ लाभवि०, ८ इस्सरियविसिट्ठया, जं वेदेति पोग्गलं वा पोग्गले वा पोग्गलपरिणामं वा वीससावा पोग्गलाणं परिणामं तेसिं वा उदएणं जाव अट्ठविधे अनुभावे पराणत्ते? णीयागोयस्स णं भंते? पुच्छा? गोयमा? एवं चेव णवरं जातिविहीणया जावइस्सरिय विहीणया जं वेदेति। पोग्गलं वा पोगाले वा पोग्गलपरिणामं वा वीससावा पोग्गलाणं परिणामं तेसिं वा उदएणं जाव अट्ठविधे अनुभावे पराणत्ते।

[प्रज्ञाप० सू० पद २३ उ० १]

जाति, विशिष्टकुल, विशिष्टबल, विशिष्टरूप, विशिष्टतप, विशिष्टश्रुत, विशिष्टलाभ और विशिष्टऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। तथा मेरे नीच स्वरूप के पुद्गलों के विपाकोदय से यह जीव पूर्वोक्त विशिष्ट जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ और ऐश्वर्य से सर्वथा रहित होता है। अर्थात् उसको निकृष्टजाति, निकृष्टकुल, निकृष्टबल, निकृष्टरूप, निकृष्टतप, निकृष्टश्रुत, निकृष्टलाभ, और निकृष्टऐश्वर्य प्राप्त होता है। इस प्रकार मेरे अधिकार में ही संसारी जीवों की उच्चता और नीचता सुरक्षित है।

भगवान्—यह जीव तुम्हारा बन्धन किस प्रकार करता है ?

गोत्र—मेरे उपार्जन के आठ कारण हैं।

यथा—जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ, और ऐश्वर्य, इन आठ कारणों से मेरा बन्धन होता है। यदि कोई जीव इन जात्यादि का मद-अभिमान करता है तब यह मेरे नीच स्वरूप के संपादन से नीच जाति और कुलादि को प्राप्त होता है। और जिसको इनका मद नहीं होता वह उत्तम जाति और उत्तम कुलादि को प्राप्त करता है[1]। यह मेरे बन्ध की परिस्थिति है।

---

(१) उच्चागोय कम्मा सरीरपुच्छा, गोयमा ? जतिअमदेणं, कुल-अमदेणं बलअमदेणं रूवअमदेणं तवअमदेणं सुयअमदेणं लाभअमदेणं इस्सरियअमदेणं उच्चागोयकम्मा सरीर जाव पयोगबंधे। नीया गोयकम्मा

भगवन्! आपके चरणों में मेरी एक विज्ञप्ति है—हम आठों में से ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोहनीय और अन्तराय इन चारों को तो आपने देश वद्र कर दिया-क्षय कर दिया क्योंकि ये चारों आपके साथ अत्यन्त शत्रुता रखते थे। ऐसे शत्रुओं को इस प्रकार का दण्ड देना समुचित ही था। और हम चारों—वेदनीय, आयु, नाम, और गोत्र को आप आज तक अपना रहे हैं। क्योंकि हम चारों आपके अनन्य सेवक हैं। ऐसे सेवकों पर स्वामी की कृपा का होना एक स्वाभाविकता है। परन्तु इस समय आप जो सर्वोत्कृष्टजाति सर्वोत्कृष्टकुल, सर्वोत्कृष्टरूप, सर्वोत्कृष्टतप, सर्वोत्कृष्टश्रुत, और सर्वोत्कृष्टऐश्वर्य से सम्पन्न होकर सर्वोत्कृष्टकैवल्य विभूति से विभूषित होते हुए, जगद्वन्द्य, जगत्पूज्य बन रहे हैं। तथा परम ऐश्वर्य रखने वाले इन्द्रादिदेव भी आपश्री की चरणरज को अपने मस्तक पर चढ़ाते हुए आपको जगत्पिता त्रिलोकीनाथ और देवाधिदेव कह कर पुकारते हैं। जोकि आपके महामहिमशाली व्यक्तित्व को दृष्टि में रखते हुए बहुत ही तुच्छ हैं। इस महामहिमपूर्ण विभूति के सम्पादन में तीर्थंकर गोत्र नाम बाँधनेरूप मुझ अनुचर से जो कुछ भी तुच्छ सेवा आपश्री की बन पड़ी है वही मेरे लिए सबसे अधिक

सरीरपुच्छा, गोयमा? जातिमदेणं जाव इस्सरिय मदेणं णीयागोयकम्मा सरीर जाव पयोगबंधे॥ [भगवती सू० श० ८ उ० ६]

गौरव की बात है। सच्चा सेवक यद्यपि किसी फल की इच्छा से अपने स्वामी की सेवा नहीं करता तो भी उसकी निस्स्वार्थ सेवा का पुरस्कार उसे मिल ही जाता है यही कारण है कि मुझ जैसे क्षुद्र सेवक को आप जैसे महाप्रभु के चरणों में विशिष्ट स्थान प्राप्त हो रहा है। यह मेरा कम सौभाग्य नहीं।

(८) अन्तराय—इस प्रकार गोत्रनाम के पुरुष का भाषण समाप्त हो जाने के बाद आठवां अन्तराय नाम का पुरुष प्रभु के समक्ष उपस्थित हुआ और बोला—

प्रभो! आपने इन सातों का व्याख्यान सुन लिया। अब मैं जो कुछ कहना चाहता हूं उसे भी सुनिये! मेरा नाम अन्तराय है दूसरे शब्दों में मुझे विघ्न भी कहते हैं॥

मेरा काम इस जीवात्मा की हर एक शुभ प्रवृत्ति—में अन्तराय डालना—विघ्न उपस्थित करना है॥

भगवन्! मेरी शक्ति इतनी प्रबल है कि जब मैं उसका प्रयोग करता हूं। तब जीवों के सारे ही मनोरथ धरे के धरे ही रह जाते हैं। उनकी बड़ी २ व्यवस्थाएँ छिन्न भिन्न हो जाती हैं। जीवों की इच्छाओं को रोकने और उन्हें कार्य-रूप में परिणत न होने देने का एक मात्र अधिकार मुझे ही प्राप्त है। दान में, लाभ में, भोग और उपभोग तथा वीर्य में अन्तराय डाल कर विघ्न उपस्थित करके इस जीवात्मा को सर्व प्रकार से भग्न-मनोरथ कर देना मेरे लिए एक साधारण बात है। सत्य तो यह है कि मेरा नियन्त्रण इन सब से अधिक बलवान् है।

मेरे अवान्तर भेद—उत्तर प्रकृतियें पांच हैं[1] यथा-दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, और वीर्यान्तराय। संसार का प्रत्येक प्राणी विपाकोदय के समय में मेरे इन पांचों स्वरूपों का प्रत्यक्ष रूप से अनुभव कर रहा है।

(१) दानान्तराय—धन सम्पत्ति के होने पर भी दान देने में रुचि न होना।

(२) लाभान्तराय—लाभ की पूर्ण सम्भावना रहते हुए भी किसी कारण-प्रतिबन्ध-विरोध से लाभ का न होना।

(३) भोगान्तराय—भोगने योग्य खाद्यादि पदार्थों के उपस्थित रहने पर भी भोग न सकना।

(४) उपभोगान्तराय—उपभोग की सामग्री मौजूद होने पर भी उपभोग्य पदार्थों के उपभोग करने की शक्ति से रहित होना।

(५) वीर्यान्तराय—शारीरिक बल पराक्रमादि के होने पर भी अत्यन्त आलस्य युक्त होकर उसका उपयोग न कर

---

(१) अंतरायस्स णं भंते! कम्मस्स जीवेणं पुच्छा? गोयमा! अंतरायस्स कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पंचविधे अनुभावे पण्णत्ते? तंजहा-दाणान्तराए, भोगान्तराए, उवभोगान्तराए, वीरियंतराए, जं वेदेति पोग्गलं जाव वीससा वा तेसिं वा उदएणं अंतराइयं कम्मं वेदेति एस णं गोयमा? अंतराइये कम्मे एस णं गोयमा? जाव पंचविधे अनुभावे पण्णत्ते।

[प्रज्ञापना सू० पद २३ उद्दे० १ सू० १६१]

सकना। इन पांच प्रकारों से यह जीव मेरे विपाकोदय का अनुभव करता है। इसके अतिरिक्त मेरे बन्ध के भी दानादि पांच ही कारण हैं—अर्थात् दान, लाभ, भोग, उपभोग, और वीर्य, इन पांचों में अन्तराय-विघ्न उपस्थित करने से यह जीवात्मा मेरा अन्तराय कर्म का बन्ध करता है। (१) दान में विघ्न डालने वाला दान से वंचित रहता है। लाभ के अन्तराय उपस्थित करने से लाभ नहीं हो सकता। इसी प्रकार किसी किसी के भोगोपभोग और वीर्य में अन्तराय डालने का भी वैसा ही फल होता है। विघ्न से विघ्न ही संचित होता है। जिस प्रकार किसी अन्य के कार्य में विघ्न डाला जा सकता है ठीक उसी प्रकार अन्य के द्वारा अपने कार्य में भी विघ्न उपस्थित होता है।

भगवन्! ये संसारी जीव कितने भोले हैं। इनकी दूसरों को दुःख में डालकर स्वयं सुखी बनने की विगर्हित भावना कितनी दयाजनक है। अतः जो लोग दूसरों के कार्यों में विघ्न उपस्थित करने की स्वयं निर्विघ्न-विघ्नरहित होने की कुत्सित लालसा करते हैं उनके लिए मेरा दण्डविधान बहुत ही कठोर

(१) अंतराइय कम्मा सरीरपुच्छा, गोयमा ? दाणंतराएणं, लाभंतराएण, भोगंतराएणं, उवभोगान्तराएणं, वीरियंतराएणं, अंतराइयकम्मा सरीरप्पयोगनामाए कम्मस्स उदएणं अंतराइय कम्मा सरीरप्पयोगं बंधे ॥

[भगव० सू० श० ८ उ० ९]

है। मैं उनको दो प्रकार से दण्डित करता हूं।[1]

(१) वर्तमान में उनके पास जो पदार्थ विद्यमान हैं उनका विनाश हो जाता है और—

(२) भविष्य में उन पदार्थों के प्राप्त होने के जो मार्ग हैं वे भी उनके लिए बन्द हो जाते हैं। यही मेरा अखण्ड शासन है।

भगवन्! मैंने वाद विवाद में निपुण उच्चकोटि के विद्वानों, विपुल धन सम्पति रखने वाले धनी, मानी, सद्गृहस्थों, अतुल बल पराक्रम सम्पन्न राजा महाराजाओं को भी क्षण भर में हतोत्साह-उत्साहहीन करने में जो कौशल प्राप्त किया है उसके विषय में तथा अपने इन तीनों भाइयों—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहनीय—(गुणघातकता के नाते से ये तीनों मेरे भाई हैं) को समुचित सहायता पहुंचाने के लिए इनके विनाशार्थ अपेक्षित आध्यात्मिक बल को संचित न होने देने में मुझे जो हस्तलाघवता प्राप्त है उसके सम्बन्ध में मेरी और भी बहुत कुछ कहने की इच्छा थी परन्तु समय का संकोच होने से मैं अब इतने को ही पर्याप्त समझता हुआ अपना स्थान ग्रहण करता हूं।

(६) जीव—इस भाँति विभिन्न नाम और समान वेष धारण करने वाले इन आठ पुरुषों के गर्वपूर्ण जुदे २

(१) अंतराइए कम्मे दुविहे पं. तं.—पडुप्पन्नविणासिए चेव पिहित—आगामियपहं ॥ [स्थान. सू. स्था. २ उ० ४]

भाषणों को सुनने के बाद जीव नाम के नौवें व्यक्ति ने भी प्रभु के समक्ष उपस्थित होकर अपने विषय में कुछ निवेदन करने के लिए प्रभु से आज्ञा माँगी और आज्ञा मिलते ही उसने कहा—

प्रभो ! ये आठों एक जाति के हैं और मैं इनसे भिन्न जाति का हूं, मेरा इनके साथ वास्तविक कोई सम्बन्ध नहीं है, ये आठों जड़ हैं और मैं चेतन हूं— इन आठों ने मिल कर मुझे अकेले पर जो जो अत्याचार किये और कर रहे हैं। वे कहां तक उचित हैं। इस बात का निर्णय तो आप ही करेंगे। मुझे तो इस समय इन लोगों के सामने केवल अपने स्वरूप का ही निर्णय कराना अभीष्ट है, परन्तु इसके पूर्व मुझे अपनी विपत्ति-पूर्ण आत्मकथा को सुनाना कुछ अधिक उपयोगी मालूम होता है।

भगवन्! इनके दुष्ट संसर्ग से मैं अपने वास्तविक स्वरूप को भूल कर इनके हाथों अपनी सारी सम्पति को लुटा चुका हूं। इनके चुंगल में फंसकर मैंने कल्पनातीत वेदनाएं सहीं और अब तक सह रहा हूं, इन आठों में से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चारों ने मुझे बहुत कष्ट दिया है मेरी बहुत दुर्दशा की है। ज्ञानावरण ने मेरे ज्ञान धन को लूटा, दर्शनावरण ने मेरी दर्शन सम्पत्ति पर हाथ फेरा, और इस मोहनीय ने तो मुझे कहीं का भी नहीं छोड़ा, इसने मुझे न जाने ऐसी कौनसी मदिरा पिलाई है कि-जिसकी खुमारी-मादकता, आज तक उतरने में नहीं

आती, मैंने अपने आपको भूल कर इसके आदेशानुसार अपनी सारी विभूति इसके हवाले कर दी।

सारांश कि—मेरे सम्यक्त्व और क्षायिक भाव रूप आत्मधन को मोहनीय ने हड़प किया। और मेरी सारी आत्मलब्धियों को लूटने वाला यह चौथा अन्तराय है।

भगवन् ! मुझे तो इनकी तस्करता और शत्रुता का आज ही पता चला है। इससे पहिले तो मैं इनको अपने परम मित्र और परम हितकारी समझता था। और आत्मीय भाव से च्युत होकर इनके सर्वथानिष्ट कृष्ट स्वरूप को ही अपना स्वरूप समझ रहा था। अधिक क्या कहूं अपने में अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन और अनन्तवीर्य को रखता हुआ भी, आत्मविस्मृति के कारण गडरिये के शासन में भेड़ों के साथ विचरने वाले सिंह की भांति हर्ष शोक और मोहादिकों को ही अपने निजी स्वाभाविक गुण मान कर इन दुर्जनों की दासता को ही मैंने अपना परम सौभाग्य समझा, ओह ! कितनी भूल, कितनी आत्मविस्मृति।

कृपानिधे ! मैं आप से सत्य कहता हूं कि आपश्री के चरणों में उपस्थित होने से पहले मुझे अपने यथार्थ स्वरूप का बिलकुल भान नहीं था। मैं तो अपने को इन्हीं का सजातीय समझ रहा था, दूध और जल की भांति संमिलित होकर इनके गुणधर्मों को ही अपने गुणधर्म समझता था, परन्तु आज आपकी अपार कृपा से मेरी आत्मविस्मृति में सजगता आई, मेरे

आवरण का कुछ पर्दा हटा, और मेरे अन्धकारपूर्ण हृदय में कुछ प्रकाश की रेखा दिखाई देने लगी। उसके आलोक से आज मुझे अपने निजी स्वरूप का कुछ भान हुआ है। अब मुझे अपनी और इन आठों कर्मों की वास्तविकता का पता चला, और इनके द्वारा किये गए बलात्कारों का भी ज्ञान हुआ, उसका फल स्वरूप मेरी यह करुणापूर्ण—दर्द-भरी आत्मकथा है। जिसका कि मैंने ऊपर आपश्री के समक्ष वर्णन किया है।

इतना कहने के बाद वह जीवात्मा फिर बोला कि—प्रभो! आपश्री के पवित्र-चरणों के स्पर्श से ही मेरी यह आत्मविस्मृति विलुप्त हुई, और मुझे अपने यथार्थ स्वरूप का भान प्राप्त हुआ, अब मैं अपने और इन आठों कर्मों के स्वरूप भेद को अच्छी तरह से समझ रहा हूं और मैं यह भी समझ रहा हूं कि मैं एक स्वतन्त्र चेतन तत्व हूं। और ये आठों ही जड़ रूप हैं। अतः इनके साथ मेरा दूर का भी कोई वास्ता नहीं। तथा मुझे अब इस बात का भी ज्ञान है, कि मैंने अपनी भूल से (मिथ्यात्व अविरतिप्रमाद कषाय और योग से) इन दुर्जनों के सहवास में आकर इनकी कृपा से जिन असह्य कष्टों का अनुभव किया और अब तक कर रहा हूं उनके दूर करने तथा इनको छिन्न-भिन्न करने की मेरे में पर्याप्त शक्ति विद्यमान है। क्योंकि मैं आपका सजातीय हूं, अतः जिस प्रकार आपश्री ने अपने अमोघ बल-वीर्य के

प्रयोग से इन चारों ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय को परास्त करके दूर फैंक दिया है उसी प्रकार मैं भी इनको परास्त करने की अपने में समर्थ रखता हूं।

एवं अब मुझे इस बात का भी बोध है कि—मैं एक अनादि सिद्ध स्वतन्त्र चेतन द्रव्य हूं। और मेरा स्वरूप लक्षण उपयोग[1] है। बोधरूप व्यापार है। जो कि मेरे सजातीय जीव-मात्र में सर्वात्म भाव से तीनों काल में पाया जाता है। यद्यपि मेरे में अनन्त गुण पर्याय हैं। तथापि उन सब में उपयोग ही प्रधान है। वह स्व और पर का प्रकाशक होने से अन्य गुणों पर्यायों का भी बोध करा सकता है। एवं बोलना, चलना, पढ़ना, लिखना और विचार तथा अनुभव करना आदि जितने भी मेरे बाह्य और आभ्यन्तरिक व्यापार हैं वे सब उपयोग के ही आश्रित हैं। अतः उपयोग ही मेरा सर्वप्रधान स्वरूप लक्षण सर्वतोभावेन स्वरूपपरिचायक है। यह उपयोग सामान्य रूप से दो प्रकार का है—

(१)साकारोपयोग[2] और (२)अनाकारोपयोग, विशेष रूप से साकारोपयोग के आठ और अनाकारोपयोग के चार भेद हैं।

---

१ (क) उवओगलक्खणो जीवे (भगव० सू० श० २ उ० १०)

(ख) जीवो उव ओग लक्खणो।

२ जो बोध ग्राह्य वस्तु को विशेषरूप से जानने वाला हो वह साकारोपयोग है तथा—

यथा—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान, मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, और विभंगज्ञान, ये आठ भेद साकारोपयोग के हैं। और चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन, और केवलदर्शन, ये चार भेद अनाकारोपयोग के कहे हैं।[1]

हे देव! इसके सिवाय मुझे अब इस बात का भी स्मरण हो रहा है कि जिस रत्नत्रयी (दर्शन, ज्ञान और चारित्र

जो बोध ग्राह्य वस्तु को सामान्य रूप से जानने वाला हो वह अनाकारोपयोग होता है।

साकारोपयोग का ही दूसरा नाम ज्ञान या सविकल्पक बोध है और अनाकारोपयोग को दर्शन या निर्विकल्पक बोध कहते हैं।

१ कतिविहेणं भंते? उवओग पण्णत्ते? गोयमा! दुविहे उवओगे पण्णत्ते तंजहा—सागारोवओगे अणागारोवओगे य॥ १ ॥ सागारोवओगे णं भंते? कतिविहे पण्णत्ते? गोयमा? अट्ठविहे पण्णत्ते? तंजहा-आभिणिवोहियनाण 'सागारोव ओगे' 'सुयणाण सागारोव ओगे,' ओहिणाण सा० मणपज्जवनाण सा० केवलनाण सा० मतिअण्णाण सा० सुयअण्णाण सा० विभंगणाण सागारोपओगे? अणागारोवओगे णं भंते? कतिविहे पं० गो०? चउव्विहे पं० तं०—चक्खुदंसण, अणागारोवओगे, अचक्खुदंसणं अणा० ओहिदंसण अणा० केवलदंसण अणागारोव ओगेय।

(प्रज्ञाप० सू० प० २६)।

रूप) की सम्यक् आराधना से इन आठों दुर्जनों का निरास और परम मंगल स्वरूप निर्वाणपद की प्राप्ति होती है। उसका वास्तव स्वरूप क्या है ? और उसके सम्यक् आराधन के लिए किस मार्ग का अनुसरण करना उचित है ? परन्तु भगवन् ! मैं अपने विषय में इस प्रकार का श्लाघापूर्ण वर्णन करूं यह मेरे जैसे विनयशील के लिए उचित प्रतीत नहीं होता ? भद्र पुरुषों को आत्मश्लाघा से सदा ही दूर रहना चाहिए, यह मैंने आप जैसे महापुरुषों से बार बार सुना है। भले पुरुष तो स्वयं क्या दूसरे के मुख से भी मान बड़ाई की बातें सुनना नहीं चाहते। यह काम तो इन जैसे महाधूर्त ही कर सकते हैं। साधारण रूप से इन आठों और विशेष रूप से इन चारों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, और अन्तराय) ने अपनी आत्मश्लाघा में आकाश और पाताल एक कर दिया है। पहला कहता है मैंने इस जीव को महा-मूर्ख बना डाला है। दूसरा कहता है मैंने इस जीव को अन्धा, बहरा, और लूला, लंगड़ा बना दिया है। तीसरे की आत्म-श्लाघा का तो कुछ ठिकाना ही नहीं। वह तो कहता है कि मैं सारे विश्व को अपनी अंगुली पर नचा रहा हूं ! किसी की क्या मजाल जो मेरे बिना दम भर जावे। और चौथे का तो कहना ही क्या है, वह तो मेरे जैसे भोले भाले जीवों को दीन अनाथ और कंगाल बनाने का ही व्रत लिए हुए है।

भगवन् ! कदाचित् मान लो, कि इनकी ये आत्मश्लाघा पूर्ण

गर्वोक्तियें ठीक भी हों तो इनमें सिवाय अनर्थ करने के और कौन सी नई बात है कि—जिसके लिए ये इतना अभिमान कर रहे हैं! मेरे विचार में तो यह परले दर्जे की निर्लज्जता है। अस्तु, कुछ भी हो मेरे स्वरूप और कर्तव्य के विषय में तो भगवन्! जो कुछ उचित हो उसे आप ही कहने की कृपा करें यही मेरी भी चरणों में सविनय प्रार्थना है।

जीवात्मा के संभाषण को उपस्थित मुनिगण ने बड़ी शांति से सुना और मन ही मन में उसकी यथार्थता और स्पष्टवादिता की दाद देने लगे। तथा ज्ञानावरण आदि आठ पुरुषों ने भी इस संभाषण में किसी प्रकार की अनुचित प्रवृत्ति कोस्थान नहीं दिया प्रत्युत बड़े धैर्य से उसे सुना।

इसके अनन्तर भगवान् के सामने सबकी ओर से प्रतिनिधि रूप में उपस्थित हो कर ज्ञानावरण ने कहा—कि भगवन्! इस जीव नाम के व्यक्ति ने इस समय हमारे विषय में जो कुछ कहा है उसकी हमें स्वप्न में भी आशा नहीं थी। हम तो इसे अपना समझे हुए बैठे थे। और वास्तव में बात भी यही थी! परन्तु आपश्री के चरणों में पहुंचते ही इसकी मोह तन्द्रा टूट गई। और यह जाग उठा। जागते ही इसने हमारे वास्तविक स्वरूप को पहचान लिया। उसी का फल स्वरूप इसका यह संभाषण है। तथा इसने हमारे विषय में जो कुछ कहा है वह अक्षरशः सत्य है। हमारा स्वभाव ही ऐसा है। इसके लिए हम विवश हैं। क्योंकि स्वभाव अपरि-

वर्तनीय है। परन्तु इसने हमें जो दोषी ठहराने का प्रयत्न किया है वह इसका भी हमारे ऊपर बलात्कार ही है। कारण कि—यह कर्ता है और हम कर्म हैं। यह जिस प्रकार की शुभ या अशुभ क्रिया का अनुष्ठान करता है उसी के अनुसार हमारा बन्ध होता है। यदि चुम्बकगत आकर्षण-शक्ति से खिंचा हुआ लोह चुम्बक के साथ जा चिपकता है तो इसमें लोह का क्या दोष ? वह तो इस कार्य में विवश है तात्पर्य कि—हमारा इसकी ओर आकर्षित होकर इससे सम्बद्ध होना इसी के अध्यवसाय पर निर्भर करता है।

प्रभो ! आप निर्णय देते समय हमारे इस कथन को भी ध्यान में रक्खेंगे, इसी आशय से हमने यह निवेदन किया है॥

भगवान् का निर्णय

इस प्रकार उन आगन्तुक व्यक्तियों के जब पृथक् २ भाषण समाप्त हो चुके तब उपस्थित श्रोताओं की उत्कट इच्छा से मंगलमूर्ति श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने उपस्थित श्रोतृवर्ग को सम्बोधित करते हुए अपनी गगनभेदी गम्भीर वाणी से इस प्रकार कहना आरम्भ किया।

संयमशीलमुनिवृन्द ! तथा अन्य भावुको ! इन आगन्तुक व्यक्तियों के मनोरंजक भाषणों से जीव और कर्म के सम्बन्ध में जानने और ग्रहण करने योग्य जो अंश है उसकी ओर आप लोगों को विशेष लक्ष्य देना चाहिए, तथा आत्मा और कर्म के विषय

में इस समय अनेक प्रकार की भ्रान्त विचारणायें प्रचलित हो रही हैं। अतः इन दोनों के यथार्थ स्वरूप को संक्षेप से ही समझ लेना भी आप लोगों के लिए परम आवश्यक है। विश्व के चेतन और अचेतन रूप में उपलब्ध होने वाले सभी पदार्थ न तो सर्वथा नित्य कूटस्थ-ध्रुव [किसी भी प्रकार के परिवर्तन को प्राप्त न होना—अर्थात् सदा एक ही रूप में स्थित रहना है] हैं और न अनित्य किन्तु नित्यानित्य उभय रूप होने से परिणामी-नित्य है। कारण कि सभी पदार्थ अपने मूल स्वरूप में स्थिर रहते हुए भी निमित्तवशात् विविध रूपों में परिवर्तित हुए देखे जाते हैं। तथा आगमपरिभाषा में प्रत्येक वस्तु द्रव्य और पर्याय की दृष्टि से शाश्वत और अशाश्वत मानी गई है, इसलिए विश्व की हर एक वस्तु द्रव्य मूल जाति की अपेक्षा से ध्रुव और पर्याय-परिणाम की अपेक्षा से अस्थिर-उत्पादविनाशशाली है, परिणामिनित्यता का वास्तविक स्वरूप यही है। हमारे विचारों में परिणामि-नित्यता का स्वरूप केवल जड़ पदार्थों तक ही सीमित नहीं किन्तु चेतन आत्मा में भी लागू पड़ता है, इस लिए यह आत्मा केवल कूटस्थ या केवल निरन्वय-क्षणिकस्वरूप ही नहीं किन्तु परिणामि नित्य स्वरूप है। आत्मा द्रव्य है क्योंकि वह गुण पर्याय वाला है। उसमें चेतना आदि गुण और ज्ञानदर्शनादि रूप विविध उपयोग पर्याय हैं। यह आत्मा अपनी चेतना शक्ति के द्वारा ज्ञानदर्शनादि रूप से भिन्न २

उपयोग रूप में परिणत होता है। परन्तु उसकी आत्मभूत चेतन शक्ति अपने मूल स्वरूप से कभी च्युत नहीं होती, और यह शक्तिविषय सान्निध्य से विभिन्न समीपवर्ती ज्ञानदर्शनादि रूप विविध उपयोगों-पर्यायों के त्रैकालिक प्रवाह का मूल स्रोत है। यह आत्मद्रव्य से तथा आत्मगत अन्य शक्तियों से कभी पृथक् नहीं हो सकती। एवं उपयोग रूप पर्यायों की भांति इस आत्मा में कर्माणुओं के सम्बन्ध से और भी सुख-दुःख वेदना तथा प्रवृत्ति आदि रूप पर्यायों का प्रवाह चलता रहता है। यही इस आत्मा की स्वाभाविक और वैभाविक परिणति है, अस्तु अब कर्म के विषय में सुनिये! कर्म कोई गुण क्रिया विशेष नहीं किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म पौद्गलिक द्रव्य है। अपने में कर्मत्व प्राप्त करने की योग्यता रखने वाले पुद्गल इतने सूक्ष्मातिसूक्ष्म होते हैं किसी सूक्ष्मवीक्षक यन्त्र की सहायता से भी नहीं दीख सकते। तब शरीर में तेल मल कर धूलि में लेटने से जैसे धूलि शरीर के साथ लिपट जाती है उसी प्रकार मिथ्यात्व कषाय और योगादि से प्रकंपित हुए आत्म-प्रदेशों के साथ कार्मण जाति उन सूक्ष्माति-सूक्ष्म पुद्गलों का जब सम्बन्ध होता है तब उन्हें कर्म संज्ञा प्राप्त होती है।

कर्म द्रव्य और भाव से दो प्रकार का है भाव कर्म कषाय रूप होता है। जो कि जीव आत्मा का वैभाविक परिणाम माना गया है। और द्रव्य कर्म कार्मण जाति के सूक्ष्म पुद्गलों

का विचार मात्र है। यहां पर इतना और समझ लेना कि भाव कर्म में इस जीव का कर्तृत्व उपादान रूप से है। और द्रव्य कर्म में निमित्त रूप से, तथा कर्म के उपार्जन में भाव और भाव कर्म के संचित करने में द्रव्य कर्म कारण निमित्त है। अतः यह जीव ही कर्म का कर्ता और फल का भोक्ता एवं कर्मबन्धन से मुक्त होने से मुक्त होने वाला है। उसमें अन्य ईश्वरादि सत्ता का कोई सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार द्रव्य और भाव का पारस्परिक कार्य कारण सम्बन्ध है। यह जीव और कर्म का अतिसंक्षिप्त स्वरूप है। जिसका कि हमने ऊपर दिग्दर्शन कराया है। अब जीव और कर्म के सम्बन्ध में भी संक्षेप से सुन लीजिये? इस जीव और कर्मों का प्रवाह-रूपेण अनादि काल से सम्बन्ध चला आ रहा है। उधर सत्ता-गत उदय में आकर अपना फल भुगता लेने के बाद आत्म-प्रदेशों से अलग हो जाता है। और इधर यह जीव कषायादि के निमित्त से अन्य नए कर्म बांधे जाता है। परन्तु यह सिल-सिला बराबर चालु भी रहता है और एक दिन बन्द भी हो जाता है। तात्पर्य कि जीव और कर्मों का जो परस्पर सम्बन्ध है वह दो प्रकार का है। एक अनादिसान्त, और दूसरा अनादि अनन्त है। जो आत्मायें कर्मसम्बन्ध का विच्छेद करके मोक्ष को प्राप्त कर चुकीं और जिन्होंने अभी कर्मबन्धन को तोड़कर मोक्ष को प्राप्त करना है उनका तो कर्मों के साथ सान्त सम्बन्ध है। [जैसे कि-मुक्तात्मा और भव्यात्मा]

और जिन्हों ने कभी मोक्ष जाना ही नहीं ऐसे अभव्य-आत्माओं का कर्म के साथ जो सम्बन्ध है वह अनादि अनन्त है, इनके सिवाय तीसरा सादि सान्त सम्बन्ध भी है। जो कि मात्र केवलि सापेक्ष्य है। अर्थात् केवली भगवान् का जो ईर्या पथिक कर्म है उसका सम्बन्ध सादिसान्त है[1]। इस प्रकार अनादि अनन्त, अनादि सान्त, सादि सान्त और सादि अनन्त इस चतुर्भंगी में पहिले के तीन भंग ही कर्म जीव के सम्बन्ध में लागू होते हैं।

इस सारे कथन का अभिप्राय यह है कि अनादि काल से कर्म के साथ इस जीवात्मा का सम्बन्ध होने पर भी जब जन्म मरण रूप संसार से मुक्त होने-छूटने का समय नजदीक आता है तब भव्य जीवात्मा को स्वतः या गुरुसन्निधान से सद्बोध की प्राप्ति होती है, उसके प्रभाव से वह अपने और कर्मों के स्वरूप में जो पार्थिक्य-जुदापन है उसे समझने लगता है। तदनन्तर वह एक न एक दिन तप और संयम के आराधन से उत्पन्न हुई ज्ञानाग्नि के द्वारा आत्मगत कषाय मल को जलाकर शुद्ध स्वर्ण की भांति अत्यन्त निर्मल हो जाता है, यही परम शुद्ध वीतराग आत्मा सर्वज्ञ सर्वदर्शी और सर्वशक्ति सम्पन्न ईश्वर, तथा निर्वाण प्राप्ति पर सिद्ध-बुद्ध मुक्त और

---

१ गोयमा ! ईरिया वहिया बंधस्स कम्मो वचए सादीए, सपज्जवसिए भवसिद्धियस्स, कम्मो वचए, अणादिए सपज्जवसिए, अभवसिद्धियस्स कम्मोवचए अणादिए अपज्जवसिए।" (भगव० सू० श० ६ उ० ३)

सच्चिदानन्द परब्रह्म है। इतना उपदेश दे चुकने के बाद श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने उन आठों कर्म पुरुषों को सम्बोधित करके कहा—तुम लोगों ने इस गरीब पर उचितानुचित बहुत बलात्कार किये हैं। तुम से यह बड़ा भयभीत हो रहा है। यह भवसिद्धि भव्य जीव है! इस गरीब पर अब दया करो! इसका पीछा छोड़ दो! और मैं तुम्हारे लायक स्थान भी तुम्हें बतला देता हूं।

जितने अभव्यसिद्धि अभव्य जीव हैं वहां तुम बड़ी खुशी से निश्चिन्त होकर शासन कर ही रहे हो! वहां से तुम को कभी भी कोई निकालने वाला नहीं है। इस बात का तुम पूरा विश्वास रक्खो!

फिर जीव से बोले—तुमने हम से अपना कर्तव्य पूछा था, लो, तुम भी सुनो! तुम्हारे लिए इस समय तीन कर्तव्य-काम हैं—

(१) नवीन कर्मों के आने के जितने भी मार्ग हैं उनको सब सम्वर के द्वारा रोकना।

(२) सत्तागत संचित कर्मों को सकाम निर्जरा के द्वारा क्षय करना।

(३) उदय में आए हुए फल देने को सम्मुख कर्मों के द्वारा प्राप्त हुए शुभाशुभ फल को समता पूर्वक भोगना, और इसके उपायभूत पांच महाव्रत और दश प्रकार के यति धर्म का पालन, तथा तप, संयम, और धर्म ध्यानादि का आराधन करना,

यह तुम्हारा कर्तव्य है ? इस प्रकार आचरण करने से उत्तरोत्तर प्राप्ताधिकाधिक आत्मशुद्धि के द्वारा शुक्लध्यान के तीसरे पाद विभाग में प्रविष्ट होकर ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, और अन्तराय इन चारों घातिक कर्मों का क्षय करते हुए तुम कैवल्य-केवल ज्ञान को प्राप्त कर लोगे। अस्तु, अब तुम अपने अपने कर्तव्य मार्ग का अनुसरण करो !

इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के परमहित साधक उपदेश को सुनकर सब को बड़ी प्रसन्नता हुई और अपने आपको परम धन्य समझते हुए वहां से उठकर भगवान् के आदेशानुसार अपने २ कर्तव्य में प्रवृत्त हो गये।

॥ समाप्तम् ॥

" वन्दे वीरम् "

—:o:—

लेखक की अन्य रचनाएँ

(१) उत्तराध्ययनसूत्र (भाषाटीका) तीन भाग
(२) दशाश्रुतस्कन्धसूत्र ,,
(३) अनुत्तरोपपातिकदशासूत्र ,,
(४) अनुयोगद्वारसूत्र ,, दो भाग
(५) दशवैकालिकसूत्र ,, ,,
(६) तत्त्वार्थसूत्र ,,
(७) अन्तकृद्दशाङ्गसूत्र ,,
(८) आवश्यकसूत्र (साधुप्रतिक्रमण) भाषाटीका
(९) ,, (गृहस्थप्रतिक्रमण) ,,
(१०) तत्त्वार्थसूत्र (जैनागमसमन्वय)
(११) आचारांगसूत्र (भाषाटीका) (अमुद्रित)
(१२) स्थानांगसूत्र ,, ,,
(१३) जैनधर्मशिक्षावली (आठ भाग)
(१४) जैनतत्त्वकलिकाविकास। (१५) जीवकर्मसम्वाद।
(१६) विभक्तिसम्वाद।
(१७) भावनायोग (अमुद्रित)। (१८) वीरत्थई।
(१९) जैनमुनि। (२०) स्थानकवासी।
(२१) महावीर (अमुद्रित)। (२२) संवत्सरीपर्व।
(२३) पवित्र भावनापाठ। (२४) कर्मपुरुषार्थनिर्णय।
(२५) स्मृतिश्लोक संग्रह। (२६) पचीस बोल का थोकडा।
(२७) नवतत्त्वविवरण। (२८) जैनसिद्धान्त।
(२९) पूज्य श्री अमरसिंहजी महाराज का जीवनचरित्र हिन्दी।
(३०) पूज्य श्री मोतीरामजी महाराज का जीवनचरित्र हिन्दी।
(३१) प्राकृत बालमनोरमा। (३२) प्राकृत बालबोध।